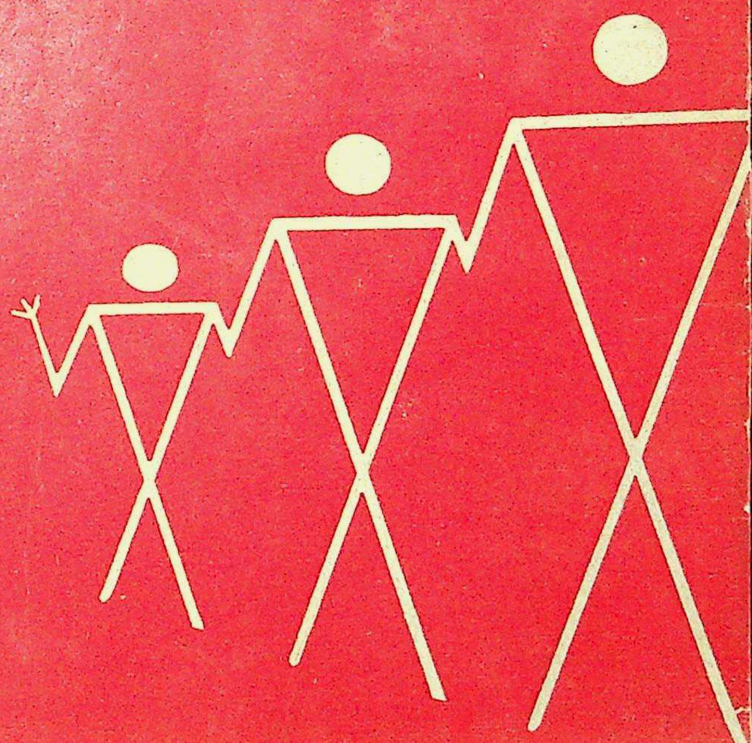
रमेश थापर

आजकलका भारत



आ ज क ल का
भा र त

Aj Kal Ka Bhārat

आजकलका

भारत

Ramesh Thapar

रमेश थापर

कृत "INDIA IN TRANSITION" का

हरिशंकर और
रवीन्द्रनाथ चतुर्वेदी

द्वारा किया हुआ अनुवाद.



मयूर
किताबें

कीमत ५·७५

1957

विषय – सूची

विहंगावलोकन

एक भारतीय दार्शनिकने कहा है, कि "मुझसे मेरे देशके विषयमें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। राजनीति और अर्थशास्त्रके सामान्य सिद्धान्तों द्वारा भारतकी न तो विवेचना ही हो सकती है और न उसके सम्बंधमें कुछ ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है। हम पूर्णरूपेण विचित्र हैं। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा युगसे आज तक पिछले पाँच हजार वर्षोंमें हम सभ्य और सुसंस्कृत ही रहे हैं। पराजय तथा निराशा, विजय तथा रक्तपातके बावजूद भी हमारे विचारों और व्यवहारोंकी सुसंबद्धता कायम है। हम सदैव विचित्र बने रहेंगे। भारतीय इतिहास तथा हमारे दृष्टिकोणके निर्माता बुद्ध, अशोक, अकबर और गांधी जैसे महापुरुषों और उनके आंदोलनोंसे यही शिक्षा मिलती है। अब चूँकि हम पुनः स्वतंत्र हो गये हैं, हम विश्वकी प्रगति हेतु नवीन पथोंको प्रकाशित करेंगे !..."

और इस प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि भारत शांति स्थापनका प्रयत्न इस कारण करता है, क्योंकि वह सदैव शांतिमय विचारोंका केन्द्र-स्थल रहा है। देशके नेता समाजवादका उपदेश इस कारण देते हैं, क्योंकि समस्त युगोंमें भारतीय व्यवहारका यही अत्यावश्यक तत्व रहा है। अहिंसा, शाकाहारिता, नैतिक, आत्मिक, रहस्यात्मक मूल्य, पुनर्जन्मकी कल्पना, क्षमा करो और भूल जाओ आदि अनेक गुण हमारी राष्ट्रीय योग्यताके प्रमुख तत्व हैं। सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि हम अपने आगामी जीवनके निर्माता हैं और वर्तमान कर्मोंके अनुसार हम उसे अच्छा या बुरा बना सकते हैं।

हमने वर्तमान युगके अंदर लौह और बाँस आवरणके सम्बंधमें बहुत कुछ सुना है, लेकिन इस मिथ्या धारणा की भित्तिके विषयमें हमें अत्यंत अल्प ज्ञान है। इसने भारतीय घटना सम्बंधी हमारे ज्ञानको आच्छादित कर रक्खा है। भारतीय कार्रवाइयोंको थोड़ी-बहुत अद्वितीय आत्मिक शक्तिसे प्रेरित प्रमाणित करनेके लिये कुछ उलटे-सीधे उदाहरण प्रस्तुत करना मनोरंजनका एक उपयोगी साधन हो गया है।

एक सामान्य सर्वेक्षण के उपरांत हमें इस बात पर विश्वास हो जायगा। भारतीय स्वतंत्रता करोड़ों व्यक्तियोंके वीरतापूर्ण संघर्ष और अत्याचार सहकर नहीं, बल्कि सभ्य वार्त्ताओं द्वारा प्राप्त की गई थी। और आजकल समाजवादको बिना किसी प्रकारके वर्गसंघर्षके प्राप्त किया जा रहा है। नैतिक तर्कों द्वारा भूमि सुधारका प्रयत्न हो रहा है। राजनैतिक विरोधोंको भी इसी तरह अनशन तथा आत्मशोधक उपवासों द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है। आयकर बचा कर 'स्वेच्छया' अंशदान स्वरूप अदा कर दिया जाता है। 'अहिंसा' आगे बढ़ कर सर्वोदय और दानका रूप धारण कर लेती है और दानोंके भी अनेक प्रकार हैं जैसे भूदान, संपत्तिदान, जीवनदान, श्रमदान आदि।

हमें बतलाया जाता है कि समस्त 'वादों' का समय व्यतीत हो चुका है। केवल दान ही सदैवके समान अब भी प्रामाणिक और अत्यावश्यक बना हुआ है। यथार्थतावादी इस अनुस्थितिको चुनौती देते हैं। इस बात पर विश्वास न करनेवाले लोगोंको उन देशद्रोहियोंके साथ संवर्गित किया जाता है, जिन्हें विदेशी स्रोतोंसे प्रोत्साहन प्राप्त है।

क्या हमने अपने अहिंसक भूतकालमें तथा आजकल भीषण और साहसिक उत्तेजनाके दर्शन नहीं किये हैं? क्या हमारे देशके लखपती किसी भी स्थितिमें समाजवादी प्रक्रियाका विरोध नहीं करेंगे, जिसके कारण समाजके अंदर उनकी स्थिति उपेक्षित-सी हो गई है? क्या भारतीय जमींदारोंने अपने आसामियोंको अपने समकक्ष रक्खे जानेके प्रत्येक प्रयत्नका सदैव विरोध नहीं किया है? यदि लोग अपने करोंको पूरा-पूरा अदा कर दिया करें तो अंशदानकी क्या अवश्यकता है? इस तरहके प्रश्न निश्चित रूपसे सार्थक हैं। किन्तु हमारे मौलिक विचारको यह बातें अप्रचलित प्रतीत होती हैं।

सम्भव है कुछ लोग इसका कारण जाननेका लोभ संवरण न कर सकें। इसका उत्तर भी तैयार रक्खा है। हमें वर्तमान भारतीय जागरूकताकी प्रगति समझाई जायगी। तत्पश्चात हमें ऐसे संकुचित इतिहासकी ओर उन्मुख किया जायगा जिसमें किसी एकांगी घटना निर्मात्री अनेकानेक धाराओं और प्रतिधाराओंकी उपेक्षा की गई हो।

परिणामस्वरूप हमें निम्नलिखित सत्यों और अर्धसत्योंका एक अजीब सम्मिश्रण देखनेको मिलेगा जिसमें यदा कदा थोड़ा-बहुत अंतर पड़ सकता है।

तथ्य १ — जहाँ एक ओर सन १८५७ में राजाओं तथा सामन्तोंने स्वतंत्रता संग्रामके अवसरपर भारत-वासियोंका नेतृत्व किया, वहाँ दूसरी ओर इसके आगे और पीछे राजा राममोहन राय जैसे सुधारक और ख्यातिप्राप्त विचारक जल्दबाजीसे मुक्ति प्राप्त करनेका विरोध करनेके लिये शेष रह गये। लुटेरों, दुःसाहसिकों और धार्मिक रहस्यवादियों आदि सभीको सार्वजनिक निष्ठा प्राप्त हो गई। साथही साथ साहसी अन्वेषक मस्तिष्क जो समयके साथ चल रहे थे, पृष्ठभूमिमें पहुँच गये।

तथ्य २ — वीसवीं शताब्दी आते आते आतंकवादी किसी गुप्त संस्थाके स्थानपर ए. सी. ह्यूम नामक एक अंग्रेजने भारतियोंकी राजनैतिक आकांक्षाकी ओर ध्यान अत्कृष्ट किया और एक ऐसी संस्थाकी नींव रक्खी जो आगे चल कर 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' कहलाई। उन्होंने यह कदम एक सुरक्षा कपाट पानेके लिये उठाया था। परन्तु फिर भी उन्हें भारतीय स्वदेशाभिमानी लोगोंका समर्थन मिला।

तथ्य ३ — जब रूसके मजदूर जारशाहीकी जड़ खोदनेमें व्यस्त थे और जब साम्यवादी विचार संसारके अनेक भागोंमें व्यक्त हो रहे थे, उस समय भारतीय राजनीतिके पथ-प्रदर्शक, ब्रिटिश सिंहासनके प्रति स्वामिभक्ति प्रदर्शन सम्बंधी बातचीतमें लगे हुए थे।

तथ्य ४ — भारतने लेनिनके स्थानपर गांधीमें क्रांतिकारी भावनाके दर्शन किये थे। गांधीने स्वतंत्रता संघर्षको संविधानवादी दलदलसे निकाल कर सार्वजनिक कार्रवाईके सुदृढ़ धरातलपर ला रक्खा। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो भारतीय रंगमंचपर सक्रियता आ गई है। इसके पश्चात सत्य और नैतिक शुचिताको प्रधानता देनेवाला अहिंसक शांतिपूर्ण सत्याग्रह आया। इसके अजीब रूपका संसार उपहास करता था। किन्तु लंगोटीधारीको थोड़े ही दिनोंके अंदर अभूतपूर्व संख्यामें अपने अनुयायी प्राप्त हो गये। उनके नेतृत्वमें यह संपूर्ण उपमहाद्वीप सक्रिय हो उठा।

तथ्य ५ — चीनको क्रांतिने उद्वेलित कर रक्खा था। भारतमें शांतिपूर्ण सत्याग्रहका प्रभाव था। चीनमें रक्तकी नदियाँ बहती थीं। भारतमें रक्तकी एक

बूँदके गिरते ही सत्याग्रह रोक दिया जाता था। चीनके अंदर साम्राज्यवाद और सामंतवाद विरोधी खूंख्वार अभियान तीव्रतर होता गया। भारतमें भी तीव्रता तदनुरूप ही थी, किन्तु अंतर्वस्तु पूर्णतया भिन्न थी। साम्राज्यवादका सर्वनाश नहीं करना था, वरन् उसे उखाड़ फेंकना था।

तथ्य ६—फासीजम सामने आया। संसारमें महायुद्धकी दुंदुभी बज उठी। एशियाके सुविस्तृत प्रदेशोंको जापानने पैरोंतले रौंद डाला। जनता विरोध करनेके लिये संगठित हुई। भारतमें क्या हुआ? भारतवासियोंने युद्धकार्योंसे असहयोग किया, क्योंकि उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हुई थी। उन्होंने विरोध नहीं किया। उन्होंने सहायता भी नहीं दी।

तथ्य ७—जब आतंकवाद फासीजम भूलुंठित हो गया, जापानके विरोधमें लड़नेवाले एशियावासियोंने अपनी बंदूकोंके मुँह पुराने पश्चिमी आक्रांताओंकी ओर फेर दिये। आँधीकी तरह एशियाभरमें औपनिवेशिक युद्ध आरम्भ हो गये। लेकिन भारतमें यह बात नहीं हुई। ब्रिटिश शासन समाप्त करनेके लिये शांति-पूर्ण वार्त्ताएँ प्रारम्भ हुईं और अंतमें सफल भी हुईं, चाहे देशका विभाजन भले ही करना पड़ा हो। आक्रांता और आक्रांत दोनोंने मित्रता स्वरूप हाथ मिला लिया।

तथ्य ८—अब सांप्रदायिक दंगोंका क्षणिक रूप दिखलाई पड़ा। क्या यह इस बातका प्रमाण था कि भारत भी रक्तप्रेमी है? निश्चित रूपसे नहीं। अन्यथा क्या बापूकी भयरहित वाणीको शांत करनेवाली हत्यारे की गोलियोंके अवसर पर आधुनिक आश्चर्यके दर्शन हो सकते? इस दुःखद घटना की समकालीन सांप्रदायिक शांतिका नाजुक संतुलन सुदृढ़ होता गया। अनेक उत्तेजना फैलाने वालोंके षड़यंत्रों और छेड़छाड़के बावजूद भी जो यदाकदा यत्र तत्र ऊधम मचानेमें सफल हो जाते थे, शांतिका साम्राज्य कायम रहा तथा सांप्रदायिक मेलजोल बना रहा। क्या इतिहासमें अन्य कोई ऐसा उदाहरण खोजनेपर मिल सकता है, जहाँ केवल एक व्यक्तिके बलिदान द्वारा इतना भारी परिवर्तन सम्भव हुआ हो?

यदि अब भी आपको भारतके अद्वितीय रूपमें कुछ संदेह रह गया हो तो आपकी ऐसी धारणाको मिटानेके लिये अन्य अनेक " निर्णयात्मक तथ्य " दिखलाये जा सकते हैं।

तथ्य ९ – जिन लोगोंने अंग्रेजोंके साथ सत्ता हस्तांतरण विषयक शांतिवार्ता की, वे लंदनके आश्रित बने रहनेके लिये तैयार न थे। उन्होंने क्रमिक रूपसे अपनी निराश्रयता अधिकाधिक प्रदर्शित की। भारत राष्ट्रमंडलसे सम्बंधित रहनेके उपरांत भी अपनी परराष्ट्रीय नीतिके अंतर्गत राष्ट्रोंकी पारस्परिक शांतिका समर्थन करता है, यह स्थिति साम्राज्यवादी हितोंके पूर्णतया विपरीत है।

तथ्य १० – गृह नीतिके अंदर सरकारने सीमित मताधिकार और गतकालीन संविधान लागू करके अपने आपको संतुष्ट नहीं किया। एक अधिक नवीन एवं लोकतांत्रिक स्वरूपकी रचना की गई है। एक वर्गकी अपेक्षा दूसरे वर्गके पास अधिक धन और सुविधा उपलब्ध होनेकी अवस्थामें जितने निष्पक्ष और स्वतंत्र सामान्य चुनाव सम्भव हैं वैसे ही भारतमें भी हुए। और इसके पश्चात पूँजीजीवियोंने मजदूरोंकी पुकार पर ध्यान देकर दस वर्षके अंदर समाजवाद प्राप्त करनेका वचन दिया। जनताको उन्होंने यही विश्वास दिलाया था।

अभी तक हमने अंतिम तथ्यके विषयमें तो कुछ सुना ही नहीं है जो समय बीतनेके साथ साथ अधिक शक्तिशाली होता जायगा और इसमें कोई संदेह नहीं कि लोगोंके अंदर यही दृष्टिकोण अपनानेकी प्रवृत्ति प्रमुख रूपसे विद्यमान है। वे घटनाओंमें से ऐसे ही तथ्य खोज निकालते हैं, और उनमें से भी केवल उन्हीं पर ध्यान देते हैं जिनसे उन्हें संतोष होता है तथा अन्योंकी उपेक्षा कर देते हैं। वे सरकार और जनताकी प्रगतिको एक निश्चित रूपमें प्रस्तुत करते हैं तथा उन अनेक परस्पर विरोधी तत्वोंकी उपेक्षा कर देते हैं, जिनसे मिल कर उस निश्चित रूपकी रचना हुई है। वे यह अनुमान कर लेते हैं कि घटनायें एकांतिक रूपसे लौह सुदृढ़ सीमाओंके अंदर बन सकती हैं और दुराग्रहपूर्वक इस बातको अस्वीकार कर देते हैं कि दिल्लीके विचारों पर सूदूरवर्ती प्रदेशोंकी प्रगतिका भी कुछ असर पड़ा होगा।

भारतीय घटनाओंकी विशिष्टता

इस बातको तो कोई व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता कि भारतवासियोंकी और भारतीय घटनाओंकी अपनी एक खास विशिष्टता रही है और रहेगी।

इस विशिष्टताका उदय केवल भारतीय रुचि नामक भावात्मक तत्वसे ही नहीं बल्कि उस वेगशील संक्रमणसे भी होता है जिसे आज समस्त संसार देख रहा है। वस्तुतः हम नवीन आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक स्वरोंके प्रति अधिकाधिक जागरूक होते जा रहे हैं, जिनका हमें पहले न तो अनुभव ही होता था और न हमारी आदत ही थी। पर्याप्त विलम्बके पश्चात औद्योगिक क्रांति हमारी ओर अग्रसर हो रही है। भारतीय रुचि इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

फिर भी समस्त बाहरी प्रभावोंका भारतके अंदर प्रविष्ट होते समय थोड़ा-बहुत परिवर्तित हो जाना आवश्यक है। इसके अंदर कोई अद्वितीयता नहीं है। सभी लोगोंका यह सामान्य अनुभव रहा है।

जीवनके सभी रूपोंमें सुधार और समन्वयका प्रभाव देखनेको मिलता है। भारतवासी निरस्त्र और विरक्त थे। वे यह भी जानते थे कि उन्हें ऐसे विदेशी शासकोंका सामना करना पड़ रहा है, जो अपने देशके उदार दबावके प्रति सचेत थे। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलनके नेतृत्व द्वारा संघर्षके पृथक मार्ग खोजनेके लिये यह तथ्य ही पर्याप्त औचित्य प्रस्तुत करते हैं। इस संघर्षका स्वरूप पृथक हो सकता था लेकिन जिन संवेगोंने भारतवासियोंको ऐसा करनेके लिये प्रेरित किया, वे लगभग वैसे ही थे जैसे वर्तमान युगकी सभी क्रांतिकारी कार्रवाहियोंके प्रेरक हैं।

गांधीजीकी अहिंसक फौज फासीस्ट जर्मनीके सैनिकोंके सामने किस काममें आती। जिस किसीने उनके विरुद्ध हलकी-सी भी आवाज उठाई थी, उसे उन्होंने नेस्तनाबूद कर डाला था। यूरुपके काराशिविरों (कंसेन्ट्रेशन कैंपों) में लाखों व्यक्तियोंको मौतके घाट उतरना पड़ा। यह सोचना कि वे सत्य और ज्ञानकी अपील के सामने झुक जायँगे, सिर्फ उपहासास्पद कल्पना है।

स्वतंत्रता संघर्ष तथा उसके पश्चात प्रभावोंके अनेकानेक स्वरूपोंमें ऐसे अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। संघर्षोन्मुख स्वदेशाभिमानी दृष्टिकोणके लिये यह आवश्यक संशोधन है जो आजकल इस देश तथा इस देश वासियोंके लिये सुझाई जानेवाली अनेक विषय और कभी कभी उपहासास्पद सिद्धांतोंकी नींव प्रस्तुत करते हैं।

विहंगावलोकन

अन्य राष्ट्रोंके समान ही भारतको भी आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परीक्षाओं का सामना करना पड़ेगा। वेद, रामायण, महाभारत, बुद्ध, अशोक, अकबर और गांधी, यथार्थतावादी सन्यासी और रहस्यवादियोंकी भूमि भी आणविक युगकी कठिन वास्तविकताके सामने इतनी ही अधोमुख हैं, जितना शताब्दियोंकी गुलामीके उपरांत नव जागरण प्राप्त करनेवाला चीन है।

जो लोग हमें 'दान' प्राचीन धर्म पुस्तकों एवं भोजपत्रों पर आलेखित ग्रंथोंकी ओर प्रत्यावर्तित करना चाहते हैं, उन्हें पुनः विचार करना पड़ेगा। इंद्र, बुद्ध, जोरास्टर, ईसा, मुहम्मद, कनफ्यूशियस, लाओ-सी आदि अपने समयमें एशियाके शक्तिशाली महापुरुष थे। किन्तु वर्तमान युग भूतकालीन सर्वरोगाघ्न औषधियोंके सहारे जीवित नहीं रह सकता। उसे उन समस्याओंका उत्तर खोजना पड़ेगा जिसका सामना उनके पूर्वजोंने कभी न किया हो।

इसी प्रकार हमें उस बातका भी उत्तर खोजना पड़ेगा जिसे भारतका "एक बड़ा प्रश्नवाचक चिन्ह" बतलाया जाता है। उस नवविकसित भारतका जो मानव जीवनकी कहानीका रूप निर्धारित करनेवाली प्रमुख शक्तियोंमें से एक है। जब तक यह 'प्रश्नवाचक चिन्ह' रहता है तब तक निर्णयात्मक बीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध का रूप निर्धारित करनेवाली उसकी कार्यस्थितिका मोटे तौर पर अनुमान लगाना भी कठिन है।

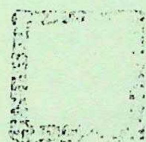
वस्तुतः भारतकी स्थिति अधिकाधिक विलक्षण होती जाती है, क्योंकि जहाँ योजनायें और कुछ रूपोंमें उनके परिणाम भी प्रभावोत्पादक हैं, वहाँ लोगोंकी परिस्थिति थोड़ी ही परिवर्तित हुई है। भूमिपर जोतनेवालोंका अधिकार नहीं है। एक छोटेसे व्यापारी वर्ग द्वारा भारी लाभ उठाये जाते हैं। विदेशी विनियोजन भी यथेष्ट हैं और अर्थव्यवस्थामें प्रविष्ट होते जा रहे हैं। मामूली विरोध प्रदर्शनको कुचलनेके लिये अभी तक गोलियाँ बरसाई जाती हैं। भ्रष्टाचार और सिफारशका बाजार गर्म हैं। परंतु जनता सामान्यतया कॉंग्रेसपार्टी सरकारका समर्थन करती है। इसी कारण कॉंग्रेसको पूर्ण आत्मविश्वास है कि वह १९५७ में होनेवाले आम चुनावमें विजयी होगी।

वर्तमान निर्णायक संधिकालमें इस परिस्थितिको समझना, उसमें सक्रियता उत्पन्न करनेवाली और उसका निर्देशन करनेवाली मुख्य प्रवृत्तियोंको देखना, देशके राजनैतिक जीवनके लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है।

किसी विशेष व्यक्तित्वकी उन्मूलक स्थिति पर किन्हीं नीतियोंको आधारित बतलाना, समस्त उपलब्धियोंको अस्वीकार करके रूढ़िगत रूपमें वितर्क करना, भारतकी नवोदित परिस्थितियोंमें दूसरे देशोंके अनुभवको यंत्रवत लागू करना आदि बातोंका परिणाम राष्ट्रीय प्रगतिके आंदोलनको निष्प्रभाव करना है और फलस्वरूप वह इस संकटपूर्ण समयमें प्रतिरक्षा करनेमें असमर्थ और नेतृत्वहीन हो जायगा।

भारतके वर्तमान स्वरूपको देखते हुए ऐसा संकट बिना किसी चेतावनीके अकस्मात प्रकट हो सकता है और उसमें देशकी शांतिप्रिय विचित्र जनताके ओठों पर प्रकंपित होनेवाली अनेक आशायें भी डूब सकती हैं।

अगस्त १९५६



भूतकाल

सत्ता हस्तान्तरण

गिरि, समुद्र, धरती, नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ।

—कबीर

ज्योतिषियोंसे भविष्य पूछनेकी आदत हम भारतवासियोंको पूर्वजोंकी देन है। भविष्यमें क्या होगा, यह जाननेकी जिज्ञासा राजनैतिक क्षेत्रमें भी दिखाई पड़ती है।

हमारे आधुनिक इतिहासमें सौ-सौ वर्षोंमें कालांतर हुआ है, विद्वतापूर्वक आज भी ऐसा कहनेवाले कम नहीं हैं! १७५७ में प्लासीकी लड़ाई, इसके बाद १८५७ में विदेशी सत्ताके विरुद्ध पहली क्रांति हुई और सौ वर्षों बाद भारत स्वतंत्र होगा—अर्थात् १६५७ में!!

परन्तु इन भविष्य वक्ताओंकी गणनामें कहीं कुछ गलती जरूर हो गई। हमें दस साल पहल ही १६४७ में स्वतंत्रता मिल गई। अतः ये १० वर्ष हमारे इतिहासमें अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस अवधिकी घटनाओंका दूरगामी प्रभाव हुआ।

सन् १६४७ के पहलेका काल बहुत ही उथल-पुथलका था। संसारके अत्यंत प्रबल साम्राज्यवादको हमने आव्हान दिया था। परन्तु हमारा आव्हान अहिंसात्मक था, नैतिक सामर्थ्य और सत्याग्रहका था। हमारे आरंभ किये हुए सत्याग्रहका जोर धीरे-धीरे बढ़ता गया, उसमें किसानोंकी जागृति थी, मजदूरोंका आन्दोलन था। उपवास—'भूख हड़ताल'—जेल जाना—जेलसे छूटना आदि जारी था। उस अभिनव 'शस्त्र' का परिणाम व्यापक और चिरकालीन होनेवाला था। उस समय हमारी निर्भय भावना प्रकट हुई। शौर्यको विश्वास मिला। उसी कालमें समझौतावादको हमने स्वीकार किया, पीछे हटे और गड़बड़ मचानेके कारणीभूत हुए। इस गड़बड़ीमें दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो गईं।

पहली: अंग्रेजोंके अत्याचारसे जनताका निश्चय दृढ़ हुआ; विदेशी सत्ताका मुकाबला करनेके लिए—स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए, लाखों लोग आन्दोलनमें शामिल हुए।

दूसरी : स्वाधीनताकी घोषणा अधिक स्पष्ट, अधिक तीक्ष्ण हुई। केवल अंग्रेजोंको हटा देनेसे ही काम चलनेवाला नहीं, यह बात भी लोगोंकी समझमें आ गई। उन्होंने आर्थिक-सामाजिक स्वतंत्रताकी माँग की। इसके बिना राजनैतिक स्वतंत्रताका कोई अर्थ नहीं। राष्ट्रीय सभामें सबका मिलाप हुआ था—स्वराज्य प्राप्त करनेवाले—उसके लिए मुकाबला करनेवाले—सभी वीर एक छत्रछायामें इकट्ठे हुए—राष्ट्रीय सभाके झंडेके नीचे आये—और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' से वातावरण गूँज उठा।

स्वाधीनता आन्दोलनके समय ये दोनों ही बातें बिलकुल स्वाभाविक थीं। परन्तु साम्राज्यवादको संसारभरमें धक्के लग रहे थे। भारतमें तो उसे बहुत बड़ा धक्का लगा। इस समय समाजवादियोंके सुख-स्वप्न—नये संसारकी नवीनता; आकर्षक लग रही थी। विदेशी साम्राज्यवादके बदले स्थानीय पूँजीवादकी स्थापना करके चलनेवाला न था। आकाशसे गिरकर खजूरपर टँगनेके समान एकके चंगुलसे निकलकर दूसरेके बंदीखानेमें पड़नेकी ताकत न थी। हाँ, यह अवश्य था कि यह चेतना सबमें समान न थी। कुछ लोगोंमें तो स्पष्ट थी, पर कुछमें अधूरी थी। किन्तु इस चेतनासे एक लाभ अवश्य हुआ, कि हमारा आन्दोलन सुव्यवस्थित हुआ। स्थानीय पूँजीपतियोंके हाथकी कठपुतली बननेकी चालसे हम बच गये।

दूसरे महायुद्धके समय हमारे इस आंदोलनकी हिमायत अच्छी तरह व्यक्त हुई। जर्मन-जापानी फौजें अजेय मालूम पड़ीं। यूरोपखंड लगभग हिल उठा था। चीन और दक्षिण पूर्व एशियाके अन्य देशोंपर जापानी सैनिकोंने अपनी जोरदार हुकूमत बजाई। ब्रिटिश, फ्रेंच और डच साम्राज्यवादियोंको अच्छी मार पड़ी। अमेरिकामें युद्धकी तैयारी अधिक न हुई थी। फासिस्ट सत्ताकी दोहरी पाश भारतकी ओर बढ़ रही थी—वीरतासे लड़नेवाली रशियन सेनाको बगल हटाती हुई—और ब्रह्माकी सीमापर जंगलोंकी ओरसे!

ऐसे समय अवसरवादी नेताओंकी अच्छी बन आई। हमारे देशका भी वही हाल होगा, ऐसा भय लग रहा था। परन्तु लोग अनुभवी हो चुके थे, उन्होंने साम्राज्यवादसे किसी भी अवस्थामें समझौता न करनेका निश्चय किया था।

राष्ट्रीय सभाका कहना था कि हमारी स्वराज्यकी माँग स्वीकार करें। ऐसा होनेपर ही हम फासिस्ट आक्रमणके विरुद्ध लड़ेंगे, राष्ट्रीय सभाका यह आग्रह था। पर अंग्रेजोंकी ओरसे कोई उत्तर आना संभव न था। फासिस्ट विजयी हुए तो संसारकी हिन्दुस्तानकी – क्या परिस्थिति होगी, इसकी कल्पना दूसरोंकी अपेक्षा पं. नेहरू-को अधिक थी, इसीलिए देशी और विदेशी प्रयत्न उन्होंने किये। उनका यह प्रयत्न इसी उद्देश्यसे था कि कोई उपाय निकलता है क्या, देखना चाहिए।

परन्तु ब्रिटिश सरकारकी अकड़ ज्यों की त्यों रही। सर स्टॅफर्ड क्रिप्स जसे प्रतिनिधियों से कहकर देखा, पर व्यर्थ। फासिस्ट विरोधी, साम्राज्यवादका विरोध करनेमें ऐसी विचित्र अवस्था शायद ही हुई हो। आन्दोलन रोकना असंभव-सा था और उस आन्दोलनके कारण जापानी फौजको मशाल दिखाकर बुलाने जैसा हुआ होता। ब्रह्माकी सीमा पर वे जमकर बैठे ही थे।

'भारत छोड़ो' ऐसी घोषणा अवश्य हुई, परन्तु संगठित आन्दोलन आरंभ नहीं हुआ। वैसा हुआ होता तो ब्रिटिश सेनाका यहाँ कहीं भी पता न लगा होता। वे अपनेमें ही उलझकर रह जाते और चालीस करोड़ जनताकी यह क्रांति सफल हुई होती। क्योंकि सरहदपर चढ़ाई करनेके लिए सारी फौजें तैयार थी।

जापानी सेना बंगालमें प्रवेश करे यह कल्पना ही नेताजी सुभाषचन्द्र बोसकी आई. एन. ए. के कितने ही लोगोंको असह्य लगी थी। आई. एन. ए. के पहले संस्थापक मोहनसिंह तो जेलमें थे, क्यों कि जापानियोंका आधिपत्य मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया था। स्वयं नेताजीके मंत्रिमंडलमें भी यह उलझन उपस्थित हुई थी कि जापानियोंको भारतमें प्रवेश करने दिया जाय या नहीं!

यह एक कठिन निर्णय था। इंडियन नेशनल आर्मीने जापानियोंके साथ भारत-की स्वतंत्रता प्राप्तिके संघर्षमें सहयोग प्राप्त करनेकी आशासे मेल किया था, लेकिन जापानियोंके भी अपने कुछ इरादे थे। लेन-देनकी प्रक्रियाके अनु-सार कुछ व्यवस्था की गई थी। इसका मूल्य तो इतिहास ही निर्धारित करेगा, पर जिस बातपर हमारा ध्यान जाता है, वह यह है कि इंडियन नेशनल आर्मीके सिपाहियोंमें फासिस्टविरोधी भावनायें बराबर मौजूद थीं – ऐसी भावनाएँ जिसकी प्रतिध्वनि ब्रिटिश शासित भारतमें गूँज रही थीं।

साम्राज्यवादी प्रचार चाहे कितना ही क्यों न हो, पर वह किसी अध्ययनशील विद्यार्थीको यह सोचनेपर मजबूर नहीं कर सकता कि भारतवासी और उनके नेता जापानियोंका पक्ष लेना चाहते थे। भारत तो पूर्ण रूपसे फासिस्ट विरोधी था। क्या गांधीजीने जो ऊपरसे नीचे तक शांतिवादी थे, किसी अमेरिकन पत्रकारसे भेंट करते समय नहीं कहा था कि "भारतकी अहिंसा अधिकसे अधिक शांतिका रूप ग्रहण कर सकती है – अंग्रेजी फौजोंके मार्गमें किसी प्रकारकी रुकावट न डालना और जापानियोंकी सहायता तो किसी प्रकार भी नहीं ;" इस कथनका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बतलाया था कि "याद रखो, अँग्रेजोंसे अधिक मैं जापानियोंको देशके बाहर रखनेका इच्छुक हूँ। क्योंकि भारतमें अँग्रेजोंके हारनेका अर्थ केवल यही होगा कि भारत उनके हाथसे निकल जायगा, पर यदि जापान जीत गया, तो भारत सब कुछ खो देगा।" गांधीजी द्वारा खुलासा किया हुआ 'रुकावट न डालनेकी नीति' पर यह आधारित था।

इन विश्वासोंके उपरान्त भी यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि फासिस्ट विरोधी युद्ध अभियानोंसे काँग्रेसने असहयोग किया और कुछ अवसरोंपर रुकावट डालनेका प्रयत्न भी किया। ऐसे देश द्वारा इसके अतिरिक्त और किसी प्रकारकी नीति अपनाना अनुचित होता, जो अपने आपको एक विचित्र परिस्थितिमें फँसा हुआ पा रहा था, क्यों कि वह स्वयं फासिस्ट विरोधी था, किन्तु फिर भी गुलामीके कारण युद्धके प्रयत्नोंमें भाग लेनेको तैयार न था।

विंस्टन चर्चिल तथा उनके समान अन्य लोगोंको जो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनकी तत्कालीन नीतिके विषयमें हीन इरादे जोड़नेके इतने शौकीन हैं, यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने स्पष्ट रूपसे फासिस्ट विरोधी नीति जबसे अपनाई उसके पहलेसे ही भारतीय नेता इस व्यवस्थाके विरोधी संघर्षमें सक्रिय सहायता दे रहे थे। आज भी स्पेनके प्रजातंत्र राज्य और जापानी साम्राज्यवादसे संत्रस्त चीनके पक्षमें उनके प्रयत्नोंकी स्मृतियाँ बहुत स्पष्ट हैं।

भारतके फासिस्ट विरोधी रुखके बारेमें दो मत नहीं हो सकते। शायद इससे यह बात समझमें आ जाय कि इस संकटकालमें असहयोगका विरोध करनेवाली एक मात्र राजनीतिक शक्ति, भारतीय साम्यवादी पार्टी, संदेह और घृणासे व्याप्त इस

वातावरणमें मजदूरों, किसानों और विद्यार्थियोंका इतनी शीघ्रतासे एक दल कैसे बना सकी, खासकर उस समय जब कि पार्टीके नेता जनताकी युद्धविषयक नीति-को समझाने और उसे व्यवहारिक रूप देनेमें इतनी भयंकर भूल कर रहे थे, कि उनका हर दशामें बदनाम होना निश्चित था।

साम्यवादी पार्टीको 'जनयुद्ध' विषयक नीतिके कारण उस समय अपना प्रसार करनेमें भले ही सहायता मिली हो, पर यह बात भी इतनी ही सही है कि मार्क्सवादी इस नीतिकी सच्चाईके बारेमें चाहे जितनी दलीलें दें, पर इसके कारण यह पार्टी सामान्य राष्ट्रीय आन्दोलनोंसे वास्तवमें दूर पड़ गई। देशके अधिकांश लोगों द्वारा उनकी नीति देशविरोधी समझी गई, क्योंकि इसका अर्थ इतना तो अवश्य था कि सोवियट संघकी प्रतिरक्षाकी तुलनामें देशकी स्वतंत्रता कम महत्वपूर्ण थी।

आज तक भी इस 'जनयुद्ध' संबन्धी नीतिका प्रभाव दिखाई पड़ता है। लेकिन भारत आसानीसे क्षमा करने और भूलनेके लिए तैयार रहता है। वह समय सबसे अधिक कठिन था, जिसका सामना किसी भी राजनीतिक दलके नेताओंको करना पड़ा था। द्वितीय विश्वयुद्ध कालमें काँग्रेसियों, समाजवादियों, साम्यवादियों और महासभाइयोंने जो जो नीति अपनायी, उसके बारेमें किसी प्रकारका अंतिम निर्णय कर पाना बहुत संदेहास्पद है। उस समय विकारपूर्ण विचारोंकी इतनी खिचड़ी हो गई थी कि उसके बारेमें इस प्रकारका कोई निर्णय करना कठिन है।

फिर भी भारतवासियोंका ब्रिटिश साम्राज्यवादके विरुद्ध क्रोध शांत नहीं हुआ था। जैसे जैसे फासिज्म हार स्वीकार करती गई, वह क्रोध भड़कता गया। जब आई. एन. ए. के अफसरोंपर अंग्रेजों द्वारा अहंकारवश मुकदमा चलाया गया, तब एकाएक ही वे वीर बन गये। अभूतपूर्व संगठनके साथ विरोध प्रदर्शन होने लगे। ज्वर और पीड़ासे जर्जरित वृद्ध वकील और राजनीतिज्ञ श्री भूलाभाई देसाईको लोगों ने जब अपरिचित लोगोंकी पैरवी करते देखा, तो प्रत्यक्ष विचारधाराके भारतीयोंमें जोश आ गया। इस सामूहिक विरोधको कुचलनेकी शक्ति दमन चक्रमें भी न थी।

इसके पश्चात् भारतीय नौसेनाका विद्रोह हुआ। 'चावल भक्षी' कहे जाने वाले सिपाहियोंपर अब विश्वास नहीं किया जा सकता था। वर्षोंका निर्मित साम्राज्य-

वादी दमनका फौलादी ढाँचा सब चटख उठा था। सुदूर इंगलैंडमें बैठे साम्राज्य निर्माताओंने इस खतरेकी रोशनीको देख लिया था।

१८ फरवरी १९४६ को नौ सैनिकोंके विद्रोहका श्री गणेश हुआ और १९ फरवरीको एटलीने ब्रिटिश लोकसभामें भारतको सत्ता हस्तांतरण विषयक परामर्श देनेके लिए एक केबिनेट मिशन भेजनेका निर्णय सुनाया। यह निर्णय तथा इसके उपरांत जो कुछ हुआ, उसे स्वेच्छा से हस्तांतरणकी आश्चर्यजनक ऐतिहासिक घटना कहा जाता है। पर सचाईपर इस तरह पर्दा नहीं डाला जा सकता।

नौसैनिक विद्रोहके समय कहा जा सकता है कि भारतीय सैन्यशक्ति, विभाजन और फूटपर विजयी हो गई थी, ऐसी विजय जिसका प्रभाव किसी हद तक इस विद्रोहके दर्शकोंपर पड़ा था। समुद्री बेड़ेके जहाजोंपर युनियन जेकके स्थान पर जो झंडे लहरा उठे थे, वह थे काँग्रेसी, मुसलिमलीगी और साम्यवादी। सड़कें जिस नारेसे गूँज उठी थीं, वह केवल एक ही था कि 'एक हो।' इस विद्रोहको सभी जगह बढ़ते हुए असंतोष (काश्मीर-बंगाल तथा दक्षिणके) से बल मिला।

यह सत्य है कि नौसैनिक विद्रोहके चरम क्षणोंमें भी बड़े-बड़े दलोंके राजनैतिक नेताओंमें विरोधी भावनायें थीं, पर लोगोंके क्रांतिपूर्ण उत्साहके सहारे विभाजन और फूटकी भावनाओंपर विजय प्राप्त करनेकी संभावना मौजूद थी। नेहरूजीने उसे देखा था। उनकी बम्बइकी दौड़से यह अंदाज लगता था कि वे इस प्रकारके विद्रोहका नेतृत्व ग्रहण कर लेंगे। पर गांधीजी और वल्लभभाई पटेलकी सावधानीका प्रभाव पड़ा। हिंसात्मक उथल-पुथल रूपी पिशाचके सामने निहित स्वार्थ पीछे हटने लगे थे। विद्रोहका चरमबिन्दु बीत गया। अब भारतवासी गौरांग महाप्रभुओंसे सत्ता प्राप्त करनेके प्रसिद्ध राजनैतिक दाव-पेंच और अवसर वादितामें पुनः उलझ पड़े। यह ऐसा वातावरण था, जब श्री जिन्ना और उनकी मुस्लिमलीग एक लाभदायक सौदा पटानेकी आशा कर सकते थे।

मंत्रणायें होने लगीं। इसी समय केबिनेट मिशन आ पहुँचा। भारतके राजनैतिक दल जो विद्रोही जनताके दबावके कारण संगठित होनेपर बाध्य किए जा सकते थे, अब पुनः आपसमें लड़नेके पुराने दाव-पेचोंमें उलझ पड़े। केबिनेट मिशनके

आगमनके फलस्वरूप चरमोत्कर्ष प्राप्त इन तथाकथित वार्ताओंका उद्देश्य एक ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न करना था, जो भारतके विभाजनके लिये अत्यंत आवश्यक थी।

दो राज्य प्रकट हुए। उनमें से एक की उत्पत्तिका कारण मुसलमानों द्वारा हिन्दू शासनका डर था। यह साम्राज्यवादकी एक अवास्तविक प्रवंचना थी, जिसका उद्देश्य नई चालोंके द्वारा अपनी शक्ति और प्रभावको यहाँ कायम रखना था। विभाजित देशकी सीमाओंको उसके बाद होनेवाले साम्प्रदायिक दंगोंमें हुए रक्तपात से पवित्र किया गया। नवनिर्मित सीमाओंके दोनों ओर लाखों व्यक्ति अपने पूर्वजों-की भूमिसे उखाड़ फेंके गये।

इस विषयमें उनकी कोई भी सहायता न कर सकता था, क्योंकि सत्ताहस्ता-न्तरण कालमें कानून और शांति कायम रखनेके लिए लार्ड माउंटबेटन द्वारा जो सीमांतसेना बनाई गई थी, उसमें केवल पंजाबी सैनिक रखे गये थे – भारतीय फौजोंके वही दस्ते जिनके इस सांप्रदायिक रक्तपातसे प्रभावित होनेकी सबसे अधिक संभावना थी।

सीमांतसेनाके इस परिगठनका दोष लार्ड माउंटबेटनके सिर मढ़ना स्वाभाविक ही है, किंतु इस कटुसत्यसे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि कॉंग्रेस, मुस्लिमलीग या साम्यवादी पार्टीमें से किसीने भी फौजोंके इस पंजाबी रूपका कोई विरोध नहीं किया था। यह बताना कठिन है कि यह कैसे हो गया। किसी हद तक इसका कारण मुख्य राजनैतिक दलोंका अंग्रेजोंपर विश्वास था।

वास्तवमें इस प्रकारकी साम्राज्यवादी चालपर उन्होंने ध्यान नहीं दिया, क्योंकि किसीको विभाजनके परिणामस्वरूप इतनी अधिक जनसंख्याके स्थानांतरणकी या सामूहिक निष्क्रमणकी कल्पना नहीं थी। यदि इस संभावना पर विचार किया गया होता, तो इसमें संदेह नहीं कि इस रक्तपातको रोकनेके लिए पर्याप्त कदम उठाये जाते।

इस भीषण दृश्यके बारेमें अब कहा जाता है – "शांतिपूर्ण हस्तांतरण" "ऐच्छिक पलायन" "राजनैतिक नेतृत्वका एक महान कार्य!" आज भारतवासी

इसके दूसरे ही रूपसे परिचित हैं। पर इस प्रकारके क्रोध और अग्निकी लपटों, हिंसा और घृणाके बीचसे होकर स्वतंत्र भारतने भविष्यकी ओर अपने प्रथम चरण बढ़ाये।

स्वतंत्रताके समझौतेका परिणाम बतलाया जाता है कि सत्ताहस्तांतरणके द्वारा एटली, माउंटबेटन, चर्चिल और ईडनकी विचारधाराओंवाले व्यक्तियोंने इस सामूहिक जागरणको शांत करनेके साथ ही साथ ब्रिटिश स्वार्थोंके हितार्थ अपनी महत्वपूर्ण स्थिति कायम रखनेकी आशा की थी, परंतु काँग्रेस पार्टीके नेताओंने राजनीतिक शतरंजका खेल यथेष्ट बुद्धिमानीसे खेलना शुरू कर दिया।

सीमान्तके उपद्रवोंके उपरांत भी समस्त भारतमें विश्वासपूर्ण स्वतन्त्रता-भावना दीख पड़ती थी। लोग विभाजनसे असंतुष्ट थे, पर उन्हें दृढ़ विश्वास था कि अब वे अपनी इच्छानुसार कार्य करनेके लिए स्वतंत्र हैं। उनमें अब उस निर्णयकी शृंखलाओंको तोड़नेकी शक्ति थी, जिसके द्वारा देशका शासन भारतवासियोंको सौंपा गया था—वे अदृश्य शृंखलायें जो ब्रिटिश पूँजीके रूपमें देशके आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण किए हुए थीं।

दरअसल भारत और संसारकी परिस्थितियोंमें एक प्रकारात्मक परिवर्तन हो चुका था। चालीस करोड़ व्यक्तियोंने साम्राज्यवादके उन अवशेषों तथा विश्वके पूँजीवादी बाजारोंसे पीछा छुड़ानेके लिए पहली बार कदम बढ़ाये थे, जो अब तक एशिया तथा आफ्रिकावासियोंके श्रम और प्रयत्नोंका लाभ उठानेके लिए झगड़ते रहे।

भारतकी कम्युनिस्टपार्टी जो इस साम्प्रदायिक हत्याकांडके विरुद्ध नगरोंको दंगोंसे मुक्त करनेके लिए श्रमिकोंका संगठन कर रही थी, इन परिवर्तनोंका सही मूल्यांकन करनेमें असमर्थ रही। तत्कालीन जनरल सेक्रेटरी श्री पी. सी. जोशी जिन्होंने इस परिवर्तनको देखा था और जो अपनी पार्टीके कार्यकर्ताओंको इस विचारधारासे अवगत करानेके लिए निरंतर संघर्ष कर रहे थे, इस बातपर उनका विश्वास उत्पन्न न कर सके।

श्री. बी. टी. रणदिवेके नेतृत्वमें एक नये अड़ियल फिरकेने सत्ताहस्तांतरणसे साम्राज्यवादको प्राप्त होनेवाले लाभोंको बढ़ा-चढ़ाकर तथा संसारकी परिवर्तनशील परिस्थितिमें औपनिवेशिक पूँजीपति वर्गद्वारा लाभ उठानेकी शक्तिको घटाकर समझा, कांग्रेसी नेताओंके एक बड़े भाग और जनताकी साम्राज्यविरोधी भावनाओंका

नैराश्यपूर्ण गलत अर्थ लगाया। उन्होंने स्वयं साम्राज्यवादी शक्तियोंमें विद्यमान संघर्षोंके परिणामोंकी ओरसे आँखें फेर लीं और अन्तमें यह असत्य सिद्धान्त बनानेकी भूल की कि किसी प्रकारका कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस फिरकेने इस प्रकारकी दलीलोंके सहारे उपरोक्त विचारधाराका विरोध करना शुरू कर दिया, जिसे 'जोशी रिफार्मिज्म' कहते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा इस प्रकारकी योजनाओंके विश्लेषणसे बौखला उठी, जो आगे चलकर विश्वभरमें प्रगतिशील आंदोलनका एक तत्व बन गया।

इस समय बहुत कम लोगोंने इस बातको समझा कि इस प्रकारके विचार और व्यवहारका अर्थ प्रजातांत्रिक विकासको अनेकों वर्षों तक जंजीरोंसे जकड़ना है—और यह प्रभाव इस कारण हुआ कि युद्धोत्तर कालमें इस प्रकारकी संकीर्ण और तर्कहीन विचारधाराका राजनैतिक, आर्थिक आर सामाजिक सुधारकों द्वारा कभी डटकर मुकाबला नहीं किया गया।

दूसरे शब्दोंमें महान आशापूर्ण परिस्थिति भारी संकटोंसे घिरी हुई थी। साम्यवादी-पार्टी जो इस अवस्थाको दूर करके लोगोंके सामने वास्तविक परिस्थिति रखनेमें समर्थ थी, लड़खड़ा रही थी और इस स्वाधीनता आन्दोलनके लाभोंको संयुक्त करनेमें असमर्थ थी और यह बात उस समय थी, जब कि साम्राज्यवाद अपने मौजूदा हर प्रकारके राजनैतिक तथा आर्थिक साधनों द्वारा भारत एवं पाकिस्तानके नये राज्योंकी सहानुभूति पानेके लिए सतत खुशामद कर रहा था।

भारतकी साम्यवादीपार्टी जिसने गलतियोंके बावजूद भी लोगोंकी विचारधारा बदलने, सामूहिक संस्थाएँ बनाने, संघर्षका नेतृत्व करने तथा जनता द्वारा शक्ति प्राप्त करनेके लिए कार्यक्रम बनानेमें इतना अधिक कार्य किया था, इस परिस्थितिपर काबू पानेके समीप भी नहीं आ सकी थी। उनकी पुकार सुनी—अनसुनी कर दी गई और कभी-कभी स्वयं पार्टीके कार्यकर्ता भी उसे न समझ सके।

ऐसी शून्य अवस्थामें कॅांग्रेस पार्टीने प्रशासनका भार संभाला। सांप्रदायिक दंगोंने समस्त देशको हिला डाला था। सीमांत पार करनेके लिए लाखों व्यक्ति चल रहे थे। कानून और शांतिके संपूर्ण साधनोंके पूर्णरूपसे नष्ट होनेका भय उपस्थित हो गया था। यह ऐसी विकट परिस्थिति थी, जिसके कारण बहादुरसे बहादुर व्यक्ति भी हार

मान जाता ! यह वास्तवमें वही परिस्थिति थी, जिसे सत्ताहस्तान्तरणके नामपर साम्राज्यवादियोंने बनानेका विचार किया था और एक ऐसा पर्दा था, जिसके पीछे बैठकर ब्रिटेन अपने धनी व्यापारिक संस्थानों तथा अपने भारतीय पिट्ठू राजनीतिज्ञोंकी सहायतासे आर्थिक एवं राजनैतिक निर्णयात्मक प्रभाव जारी रख सकता था।

इससे बड़ी और कोई गलती नहीं हो सकती थी। ब्रिटेनने राष्ट्रीय शक्तियोंका नेतृत्व करनेवाले भारतीय पूँजीपतियोंके नये दृष्टिकोणका कोई अनुमान नहीं लगाया था, जिसका प्रतिनिधित्व कॉंग्रेसपार्टी कर रही थी।

एकीकरणका आरंभ

क्या योद्धाओंका रक्त और माताओंके आसू पृथ्वीपर गिरकर धूलिमें मिल जायँगे? क्या उनसे स्वर्ग विजित नहीं हो सकेगा?

—रवींद्रनाथ ठाकूर

लगभग दो सौ वर्षोंतक एक विदेशी सत्ताने भारतके करोड़ों व्यक्तियोंपर एक दलके विरुद्ध दूसरेको खड़ा करके शासन किया था। इस नीतिको थोड़े शब्दोंमें इस तरह कह सकते हैं कि "लड़ाओ और राज्य करो।" अखिल भारतीय स्तरपर हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्यका लाभ उठाया गया। जब इस खिंचावमें किसी प्रकारकी ढील पड़ती दीखी तो गुजरातियोंके विरुद्ध मराठों, तामिलोंके विरुद्ध तेलगुओं और बंगालियोंके विरुद्ध बिहारियों आदिको खड़ा करके यह बात हमेशाके लिए संभव बनाई गई। देशके भाषिक-सांस्कृतिक क्षेत्र इस प्रकार परस्पर जोड़ दिये गये थे, जिससे इस प्रकारकी राजनैतिक चालें चलना हमेशा संभव बना रहे।

यह सच है कि देशकी प्रशासनिक व्यवस्थामें इस प्रकारकी एकता निर्मित की गई थी, जिससे जनतापर रोक रह सके तथा देशकी संपत्तिकी सतत लूटमें सुविधा बनी रहे। पर इस एकताकी रक्षा केवल ब्रिटिश हितोंके प्रसारके लिए होती थी। इस कारण जिस समय इस एकतामें खतरा दीखता, उसी समय 'अल्प संख्यकोंके हित' 'हिन्दू राज्य' 'विभाजन' और 'चीरफाड़' से संबन्धित बात होने लगती। देशका विभाजन हो चुका था, लेकिन अब उससे बड़ा एक अन्य भयंकर संकट सामने आया

स्वतंत्रताके पूर्व भारतमें ५६० रियासतें थीं, जिनमें अधिकतर (लगभग ५५४) विभाजनके उपरान्त नवनिर्मित भारतमें अवस्थित थीं। क्षेत्र और साधनोंमें उनमें भारी अन्तर था।

हैदराबाद और काश्मीर जैसी कुछ रियासतें इटली और फ्रांसके बराबर (क्षेत्र-फलवाली) थीं और कुछ विलासपुर जैसी – छोटी छोटी भी थीं, जिसका क्षेत्रफल

५०० वर्गमीलसे कम तथा जनसंख्या एक लाखसे कुछ अधिक थी। यह सामंतों द्वारा शासित भारत था, जिसके बारेमें अँग्रेजोंने एक बार स्वतंत्र भारतीय सीमाओं-के बाहर एक पृथक फेडरेशन बनानेका विचार किया था।

पर अब वह भारतके अंग थे। उन्हें ऐसा करने पर मजबूर किया गया था। लेकिन ब्रिटिश राज्यके पलायनके पश्चात् सार्वभौमिकताकी समाप्तिके साथ-साथ इस क्षेत्रमें एक संकटपूर्ण दरार बन गई थी। ये रियासतें देशके लगभग $\frac{2}{5}$ भागोंमें फैली हुई थीं, जिसका क्षेत्रफल करीबन ५,००,००० वर्ग मील और जन-संख्या आठ करोड़ सत्तर लाख थी। (इस संख्यामें जम्मू और काश्मीर शामिल नहीं हैं।)

यहाँके राजा भारतके अंग थे, पर व्यावहारिक रूपमें वे निरंकुश थे। उनके लिए तथा विशेष रूपसे बड़ी रियासतोंके लिए अंग्रेजोंसे कॉंग्रेसके पास सत्ता पहुँचनेके कारण भारी संकट उपस्थित हो गया। उनके अस्तित्वका विरोध भारतके राष्ट्रीय आन्दोलनों द्वारा हमेशा किया गया था। उन्हें 'काल-व्यतिक्रम' बताया गया था। यह एक कठिन परिस्थिति थी।

भारतके मूल शासक किस प्रकार बनियोंके सामने इस प्रकार आसानीसे झुक सकते थे, जिन्होंने चालाकीसे भारतीयोंका नेतृत्व ग्रहणकर लिया था? क्या उन्होंने १८५७ के महान् विद्रोहका नेतृत्व नहीं किया था? जब कि अंग्रेज भारत छोड़ रहे थे, तब क्या जन्म और पूर्व पद्धतिके अनुसार भारतपर शासन करनेके लिए वे आदर्श शासक नहीं थे? उनके लिए यही एक अंतिम अवसर था, जब कि वह इस अवस्थामें अपनी पुरानी सामंती सत्ता हथिया सकते थे।

यह उनके जीने और मरनेका सवाल था। और उन्हें यदि किसी प्रकारकी प्रेरणाकी जरूरत होती तो पाकिस्तानका उदाहरण उनके सामने था। वहाँ सामन्तों द्वारा शासित मुस्लिमलीगने एक राज्यको पूँजीपति हिन्दुओंके नियंत्रणसे छीन लिया था। यह सही है कि पाकिस्तानी मुसलमानोंके सामंती तत्वोंने पूँजीपतियोंके एक छोटे वर्गके साथ इस अधिकारको बाँट रखा था, फिर भी नये राज्यकी प्रमुख शक्ति तो वही थे। भारतीय सामंत इसी प्रकारका आचरण क्यों न करें?

एकीकरणका आरंभ

१९४७ में भारतीय एकताके ध्वंसावशेषोंपर शक्ति संपन्न राजाओंके नेतृत्वमें निराश सामंती तत्व टूट पड़े। हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवादके यही सबसे विश्वासपात्र सहायक थे। असलमें वह इसी प्रकारके संरक्षणपर आश्रित थे। अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनके भविष्यके लिए संकट उपस्थित करनेवाली इस उथल-पुथलमें वे पारस्परिक एकता प्राप्त करना चाहते थे। उनके पास धन था, व्यक्तिगत सेनायें थीं और उन्हें आशा थी कि जनताकी दृष्टिमें अब भी उनके लिए स्थान है।

राजाओं तथा बड़े-बड़े जमीन्दारोंने निःसंकोच हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जनसंघ जसी संस्थाओंके साम्प्रदायिक आन्दोलनोंसे सहानुभूति प्रदर्शित करना शुरू कर दिया। इन दलोंको सबसे अधिक आश्रय विशेषरूपसे पंजावमें छोटे व्यापारियों और कारीगरोंसे मिला, जिन्होंने नई सीमाओंमें संक्रमण करनेकी प्रक्रियामें अपना सब कुछ खो दिया था।

राजाओं और जमीन्दारोंको शीघ्र ही यह विश्वास हो गया, कि वे इस कटुताका लाभ उठा सकते हैं और इस कारण विभाजित भागोंके इस मध्यम वर्गीय भागपर आश्रित सांप्रदायिक संस्थाओंको सक्रिय सहायता देना शुरू कर दिया, इन कार्य-वाहियोंके लिये कारण आसान थे।

क्या सभी मुसलमान पंचम दलीय (फिफ्थ कालमिस्ट) नहीं थे ? क्या उन सबने पाकिस्तान निर्माणके पक्षमें मत नहीं दिया था ? इस बातको आसानीसे भुला दिया गया था कि मुस्लिमलीगने पाकिस्तान निर्माणके पक्षमें मत उन थोड़े-से मुसलमान मतदाताओंसे प्राप्त किये थे, जिनको १९३० के लगभग अंग्रेजोंने मताधिकार दिया था।

राजनैतिक कारणोंसे भी राजाओं और जमीन्दारोंने हिन्दू साम्प्रदायिक संस्थाओंको सहायता देनेके लिए अनेक कारण खोज निकाले। वे लोग अधिकतर संपत्तिके वर्तमान अधिकारोंको बनाये रखनेके पक्षमें थे। वे 'ईश्वर रहित भौतिकवाद' के कट्टर विरोधी थे। उनकी कार्यवाहियोंसे शक्तिशाली कांग्रेस पार्टी कमजोर पड़ जायगी और ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जायगी, जिसमें सामंतवर्ग अपनी जड़ जमा सकेगा। सभी कारणोंसे इस प्रकारका समझौता तर्कसम्मत और लाभदायक दीख रहा था।

अगस्त १९४७के पश्चात आनेवाले महीनोंकी बात सोचिये। पाकिस्तानके शासकोंने (नवाब, जमीन्दार और इसी प्रकारके अन्य लोगोंने) हिन्दू जनताके कत्लेआममें सहायता और सहयोग दिया। यह बात विशेष रूपसे पंजाबमें हुई, जहाँ इस प्रकारके तत्व बहुत शक्तिशाली थे। एक भी परिवार न बच सका। बंगालमें भी जहाँ इसका रूप कुछ भिन्न था, यह संक्रामक रोग शीघ्र फैल गया, यद्यपि यहाँ वह इतना संदिग्ध और बर्वर नहीं मालूम पड़ता था। देशकी सीमाके दोनों ओर इस प्रकारके आक्रमण संगठित किये गये, जिनमें एक हत्याके पश्चात दूसरी हत्याएँ होती रहीं, जब तक कि इस दृश्यने कत्लेआमका रूप न धारण कर लिया।

भारतीय क्षेत्र बहुत विस्तृत था। तीन या चार करोड़ मुसलमान रह गये थे। वे पाकिस्तान न जा सके, यद्यपि उनका यह विचार हो सकता था। पाकिस्तान कभी इतना विस्तृत नहीं हो सकता था कि उसमें वे समा सकें। वे उड़नेवाले कबूतरोंकी तरह थे।

इसी परिस्थितिके विरुद्ध विभाजित भारतके अधिकतर पूँजीपति एकता और धर्म निरपेक्षताकी रक्षामें लड़ने लगे। यह केवल एक सहानुभूति ही नहीं वरन् एक जरूरत भी थी, क्यों कि नवविजित शक्तिको संगठित करनेके लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न था।

मुसलमान अल्पसंख्यकोंकी सुरक्षा, बदलेकी भावनाकी प्रक्रियाको रोकना, भारतमें बसनेवाले अनेक संप्रदायोंमें विश्वास और आशाका संचार -- यही प्रमुख आवश्यकताएँ थीं। गांधीजीने अपना संपूर्ण साहस बटोरकर सांप्रदायिकताके उस भयंकर दैत्यके विरुद्ध अभियान शुरू कर दिया, जो भारतीय स्वतंत्रताके जन्मते ही उसे समाप्तकर डालनेके लिए कृतसंकल्प था। उन्होंने प्रभावित क्षेत्रोंका दौरा किया, जहाँ उन्होंने प्रेम और भ्रातृत्व भावनाका पाठ पढ़ाया। उन्होंने आत्मशुद्धिके लिए अनशनके द्वारा अपने निर्बल शरीरको कष्ट दिया। वे स्थिर बुद्धिके केन्द्र बन गये। यही उनका सर्वोत्तम कार्य था। साम्यवादी भी जो उनके राजनैतिक सिद्धान्तोंका इतना विरोध करते थे, यह मान गये कि धर्म निरपेक्षताकी रक्षाके लिए उनके इस प्रकारके साहसिक संघर्षके अभावमें स्वतंत्रताकी रक्षाकी आशा कम थी।

परिस्थिति बदली, देशके अधिकांश भागोंमें शांति बनी रही। प्रभावित क्षेत्रोंमें साम्यवादियोंके साहसी दलोंने नागरिक समितियाँ बनाईं। जो क्षेत्र अधिक प्रभावित थे, वहाँ हिन्दुओंने मुसलमानोंकी रक्षा करना आरंभ कर दिया। हत्यारे इस तरह अलग पड़ते गये और उनके सामंती तथा सामान्य पूँजीपति संरक्षक, अपना साहस खोने लगे। घृणा और संदेहकी भावनायें बनी हुई थीं, पर अब वे काबूमें थीं।

इस प्रकार निराश होकर साम्प्रदायिक लोग उस अकेले व्यक्तिका विरोध करनेके लिए उठ खड़े हुए, जिसने ऐसे समयमें भारतवासियोंकी माननीय आत्माका प्रतिनिधित्व किया था और जिसके बारेमें उनका विश्वास था कि वह उनके तथा उनकी सफलताके बीचमें बाधा है। इसलिए प्रार्थनाके लिए जाते समय उनकी हत्या गोली मारकर की गई। उनका बलिदान अंतिम प्रायश्चित था। शत्रु और मित्र सभी रो उठे। शांति जिसका उदय हो चुका था, अब निश्चित हो गई। पर भारतकी आत्माको साम्प्रदायिकताके इस दैत्यसे मुक्ति दिलाना अभी बाकी था।

इसके उपरान्त भी छिटपुट साम्प्रदायिक विद्रोह विशेष रूपसे पूर्वी बंगालके अनेक भागोंमें जारी रहे। पर यह अधिकतर पाकिस्तानी शासकों द्वारा दिये जाने-वाले जोशके फलस्वरूप होते थे, जिसका आसानीसे स्थानीयकरण हो जाता था। भारतमें रक्तपिपासा शांत हो चुकी थी। मुसलमानोंके बारेमें अनेक व्यक्तियोंको अब भी संदेह था, पर वे अब उनकी मौजूदगी सह सकते थे। गांधीजी चले गये, पर उनकी आत्मा बनी रही, जिसने विद्यमान घृणा और कटुताको समाप्त करना जारी रखा।

प्रथम ललकारका सामना कर लिया गया, पर उसका भयानक रूप काश्मीर और जूनागढ़की रियासतोंके भविष्यसे संबन्धित संकटके समय युद्धकालीन महत्वकी थीं साम्प्रदायिक दंगोंके रूपमें, साथ ही साथ प्रगट हुआ। इन दोनों रियासतोंकी सीमाएँ और उनकी अपनी पृथक विशेषता थी।

जूनागढ़ जो प्रमुखरूपसे हिन्दू क्षेत्र था, एक मुसलमान नवाब शाशकके आधीन था। काश्मीर जो प्रमुखरूपसे मुसलमान क्षेत्र था, एक हिन्दू महाराजाके आधीन था। धार्मिकरूपके अतिरिक्त सामंती साम्राज्यवादी बंधनोंने वहाँके शासकोंको पाकिस्तानका मुखापेक्षी बना दिया। जूनागढ़की समस्याका शीघ्र ही फैसला हो गया।

नवाबने पाकिस्तानके पक्षमें मत दिया। पर वहाँकी जनताने दूसरा ही निर्णय किया। उन्होंने देशपर अधिकार कर लिया और नवाब भागकर कराँची जा पहुँचा। पर काश्मीरकी समस्या अधिक उलझी हुई थी। यहाँ साम्राज्यवादी दलका स्वार्थ निहित था।

महाराजाने टालमटोल की और यह मालूम पड़ा कि यह विलम्ब जानबूझकर हो रहा है। यह कहा जाता था कि इस समय रियासतके प्रधानमंत्री श्री आर. सी. काक देशद्रोहीका पार्ट अदा कर रहे हैं। सुननेमें आया कि इस व्यक्तिने भोपालके नवाब और तत्कालीन राजनैतिक सचिव कनराड़ कोरफील्डसे मिलकर काश्मीरको भारतमें सम्मिलित न करनेके लिए एक षड़यत्र बना लिया था। उस समय यह भी समाचार फैल रहे थे कि कुछ प्रभावशाली राजा सामंती भारतकी 'स्वतंत्रता' घोषित करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। सत्य बात तो एक दिन आ ही जायगी, पर घटनाओंके सामान्य सर्वेक्षणसे यह स्पष्ट हो ही जाता है कि इस प्रकारके कुछ प्रयत्न जारी थे, जिसमें अंग्रेज़ों द्वारा सहायता की जा रही थी। काश्मीर-संकटने इस षड़यंत्रका भेद खोलनेमें सहायता की।

काश्मीरके महाराजाके लिए इस प्रकारके अनिश्चयका कोई खास कारण न था। सामान्यतया उनसे भारतमें सम्मिलित होनेकी आशाकी जाती थी – विशेष रूपसे इस कारण कि रियासतकी जनताके आन्दोलन, जिसमें सभी दल शामिल थे और जिसका नेतृत्व एक मुसलमान कर रहा था, इस बातके लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे कि राज्यकी सीमाएँ भारतका ही भाग बनें। फिर भी यह मालूम पड़ा कि काश्मीर पाकिस्तानको दिया जा रहा है।

महाराजाका अनिश्चय स्वयंसेवक कहे जानेवाले पाकिस्तानी सेनाके दस्तों तथा सीमाप्रान्तके कबाइलियोंके आकस्मिक हमलेसे समाप्त हो गया। पाकिस्तानी सेनाके अँग्रेज सेनापतिको इस आक्रमणके समयके बारेमें सूचना थी। बादमें पता चला कि उसने भारतीय सेनाके अँग्रेज सेनापतिको भी इस बातकी पहलेसे खबर दे दी थी। तथापि भारत असावधान था, क्योंकि इस समय उसकी समस्त शक्ति साम्प्रदायिक दंगोंके शांत करनेमें लगी हुई थी।

काश्मीरकी सहायताके लिए भारतीय फौज पहुँची। आक्रमणकारी पीछे हटा दिये गये। एक दीर्घकालीन युद्ध होता रहा, जिसका अंत युद्धबंदीमें हुआ और जिसका खर्च बहुत भारी पड़ा। लेकिन अब यह पता चला है कि यदि भारतीय फौजोंकी प्रथम टुकड़ियाँ २४ घंटे भी देर से पहुँचतीं तो भारतके उत्तरमें पाकिस्तानको एक मूल्यवान पारितोषिक तथा साम्राज्यवादको एक आदर्श क्षेत्र मिल जाता।

महत्वपूर्ण बात यह है कि उस समयसे अब तक काश्मीर-प्रश्न ब्रिटेन तथा अमेरिकाकी दुरंगी चाल और दोतर्फी बात-चीतकी कहानी है। आगे चलकर हम देखेंगे कि मतगणनाको इस प्रकार व्यवस्थित करनेके सतत प्रयत्न हुए हैं, जिससे यह युद्धावश्यक क्षेत्र पाकिस्तानके हाथमें चला जाय, जिसका सीधे-साधे शब्दोंमें अर्थ उन्हींके हाथमें जाना है।

दंगों और साम्राज्यवादी चालोंकी इस पृष्ठभूमिमें भारतीय पूँजीपतियोंके शासक वर्गको मालूम पड़ गया कि उनकी शक्तिको मुख्य खतरा सामंतोंकी ओरसे है, जो साम्राज्यवादके पक्षमें साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादियोंकी सहायतासे काम कर रहे हैं। अनुभवने यह प्रमाणित कर दिया कि यह साधारण खतरा न था।

वास्तविकता यह है कि जब काश्मीर-संकट उपस्थित हुआ तब काँग्रेसका एक अनुदार भाग इस दुविधामें था कि क्या भारतीय फौजें जो दंगे दबानेमें लगी हुई हैं, श्रीनगरकी रक्षाके लिए भेजी जायँ? नई विचारधारावाले दलने जिसका नेतृत्व नेहरूजी कर रहे थे, यह फैसला करवा डाला। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि मुस्लिम बहुमतवाले इस क्षेत्रके भारतमें शामिल हो जानेपर धर्म-निरपेक्षताकी भावनाएँ फैलानेमें भारी सहायता मिलेगी और साथ ही साथ भारतकी सीमापर स्थित एक अन्य सुविधापूर्ण स्थानसे भी साम्राज्यवाद विदा माँग लेगा।

यह एक ऐतिहासिक निर्णय था, जिसका भविष्यकी घटनाओंपर बड़ा भारी असर पड़ा। वास्तवमें इसके द्वारा भारतमें साम्राज्यवादके शक्तिशाली सामंती मोर्चे पर आक्रमण करनेका रास्ता साफ हो गया।

एक युगका अंत

जिनके शरीरमें जोश नहीं वे कलका सुख-दुख क्या जान सकेंगे ? 'आज' जिस राष्ट्रका मान नहीं, उस राष्ट्रकी दृष्टिसे 'कल' के आनंद और कष्टकी क्या कीमत ?

—मुहम्मद इकबाल

वह 'सत्ता' जिसका अँग्रेज प्रभुओंने हस्तांतरण किया था, मौजूद थी, पर उसे मजबूतीसे पकड़कर दृढ़ करना शेष था, अन्यथा वह राजनैतिक दलालोंके हाथमें पहुँच जाती, जो साम्राज्यवादी क्षेत्रमें अधिकतम मूल्य देनेवाले व्यक्तिके पास उसे बंधक रख देते। १९४८ और ४९ में भारतीय परिस्थितिकी वास्तविकता यही थी।

भारतीय पूँजीजीवियोंने कुछ जाने और कुछ अनजाने इस परिस्थितिको समझ लिया था। उन्हें इस शक्तिको स्थायित्व प्रदान करने तथा राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिए दो कदम उठाने पड़े। पहली बात, स्वतंत्र भारतके संविधान-निर्माणका कार्य आगे बढ़ा। दूसरी बात, हमेशाके लिए यह स्पष्ट करनेको कदम उठाये गये कि भारतके सामंती शासकोंके लिए नई व्यवस्थामें कोई स्थान नहीं है।

परिस्थितिवश इस समय काँग्रेसमें थोड़ी एकता थी। हृदयके अंतस्तलमें यह भावना मौजूद थी कि जहाँ तक हो सके एक से अधिक शत्रुओंका सामना न करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह भावना सभी युगोंमें स्वतंत्रता संघर्षोंके समय हुआ करती है। किसी हद तक यही भावना उसकी वैदेशिक नीतिका कारण तथा इस विचित्र स्पष्टीकरणकी वजह है कि तटस्थताका यह अर्थ है कि भारत एक देशके विरुद्ध दूसरेको सहायता नहीं देगा। यद्यपि पश्चिमकी ओर झुकाव अधिक स्पष्ट था।

इसी कारण आर्थिक नीतिमें किसी प्रकारके महत्वपूर्ण परिवर्तनके लिए झिझक दिखलाई पड़ती है, क्योंकि उन्हें डर था कि नाजुक मौकेपर इस कारण पूँजी-जीवियोंकी एकता कहीं नष्ट न हो जाय। उस समय भी दृष्टिकोणोंके अन्तर थे, पर उसका देशकी नीतिपर कोई खास प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ा।

भारतीय समाजवादियोंने यद्यपि इस सत्ताहस्तांतरणका पूर्ण महत्व समझ लिया था, पर उन्हें यह पता नहीं था कि क्या नीति अपनाई जाय। उन्होंने कॉंग्रेस पर मौलिक आर्थिक नीति अपनानेके लिए दबाव डालापर हमेशाकी तरह उसको व्यावहारिक रूप देनेमें वे उलझ गये, क्योंकि कॉंग्रेस पार्टीपर व्याप्त निहित स्वार्थोंका साथ छोड़नेकी अपेक्षा साम्यवादियोंके शक्ति-संचयके विषयमें वे अधिक चिंतित थे।

सत्ता हस्तांतरणके समय ही नहीं, वरन् आज तक भी उनकी नीतिका निर्धारण इसी मानसिक अंतर्द्वन्द्वके आधारपर होता रहा है। अन्य वामपक्षियोंके साथ मिलकर उन्होंने संयुक्तमोर्चा बनानेका विरोध किया, पर अपनी एक नई संस्था बनाकर इस विशाल संस्थाको विभक्त करनेका प्रयत्न किया।

उनके अनेक नेताओंने विशेष रूपसे श्री जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धनने मार्क्सवादी और गांधीवादी मान्यताओंको मिलानेका प्रयत्न किया। फलस्वरूप वे स्वयं भी उसमें उलझे और अपने पीछे चलनेवालोंको भी उलझा दिया। समाजवादियोंके कार्यक्रमोंका यही रूप अपनाया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश अधिकारियोंके निष्क्रमणकालकी उनकी असंदिग्ध शक्ति और प्रभाव नष्ट हो गई।

साम्यवादी पार्टी तथा अन्य वामपक्षी दलोंने ऊपरसे ही इस परिस्थितिका अध्ययन करके बिना अधिक सोचे यह निष्कर्ष निकाला कि ये पूँजीजीवी हमेशाकी तरह स्वतंत्रताके साथ विश्वासघात करनेकी तैयारी कर रहे हैं तथा वे शक्तिके तत्वके स्थान पर उसकी परछाईंसे अर्थात् 'कार्यालयरूपी टुकड़ों' से ही संतोष कर लेंगे।

साम्यवादियोंकी पुरानी नीति जिसके द्वारा हैदराबादके निजामके विरुद्ध विस्तृत विरोध उपस्थित किया गया था, बी. टी. रणदिवेके नये नेतृत्वमें चुपकेसे छोड़ दी गई। तेलंगानाके किसानोंका संघर्ष अपना मार्ग स्वयं बनानेके लिए अकेला छोड़ दिया गया। भूमिके दूसरे आन्दोलन भी बन्द कर दिए गये। नई नीतिके अनुसार अगस्त १९४७ में प्राप्त हुई नकली स्वतंत्रताके विरुद्ध शहरोंमें हिंसात्मक कार्यवाही सुझाई गई और इसका अर्थ था, साम्राज्यवादियों, सामंतवादियों और पूँजीजीवियोंको एक दूसरेके सहायक समझकर उनके विरुद्ध संघर्ष।

यह गलत नीति थी, जिसके कारण वामपंथियोंके नेता जनतासे दूर पड़ गये। अपने दलके सुधारवादियोंको खतम करनेके नामपर साम्यवादीपार्टीने अपने आपको ही नष्ट करना शुरू कर दिया। गैरकानूनी घोषित हो जाने पर दलके कार्य-कर्ताओंने सड़कों तथा जेलोंमें साथ-साथ वीरतापूर्वक मुकावला किया। पर यह वीरता अर्थहीन थी, जिसका उन्हें भारी मूल्य चुकाना पड़ा। इस प्रश्नपर आगे विचार किया जायगा, यहाँ काँग्रेसकी कार्यवाहियोंपर विचार करना उपयुक्त होगा।

सत्ताधारी वर्गने भारतको प्रजातांत्रिक राज्यका रूप प्रदान किया, पर जिन्हें इस पूँजीजीवी प्रजातंत्रके दुखदायी मार्गोंका पता था, उन्हें इसके बारेमें कोई उत्साह नही था। भारत पर पहलेसे ही सुरक्षाबन्दी कानूनों द्वारा शासन हो रहा था, जिसके अनुसार अभियुक्तोंपर किसी प्रकारके मुकदमा चलानेकी जरूरत न थी। वसीयतके रूपमें पुलीसकी फायरिंग और दमन भी उस प्रशासन द्वारा जारी रखे गये, जिसपर अब उन व्यक्तियोंका अधिकार था, जो अभी थोड़े दिन पहले देशकी जेलोंकी शोभा बढ़ा रहे थे।

यही दीख रहा था कि आकर्षक शब्दोंमें रचे हुए संविधानके अंदर शायद अब भूखे, नंगे और निरक्षर रहनेकी स्वतंत्रता तथा ऐसी ही अन्य अनेक प्रकारकी स्वतंत्रतायें शामिल करनी पड़ेंगी। इस परिस्थितिको अधिक बिगाड़नेके लिए इस संविधानकी रचना उन्हीं लोगोंके द्वारा हो रही थी, जिन्हें भारतकी विशाल जनमतकी उपेक्षा करके सीमित मताधिकारके आधारपर अंग्रेजोंने निर्वाचित किया था।

लेकिन ज्यों–ज्यों उसका स्वरूप तैयार होता गया, यह स्पष्ट होने लगा कि जो संविधान बनकर तैयार होगा, उसमें सामान्य निरर्थक वाग्जालके स्थानपर राष्ट्रीय आंदोलनकी मौलिक धारणायें यथेष्टरूपमें व्यक्त होंगी।

जैसा समझा जाता है, बीसवीं शताब्दीके मध्यकालमें संविधानकी रचना कोई कठिन कार्य नहीं है। इस अनेक दिशावाले विषयमें काफी साहित्य उपलब्ध है तथा भिन्न–भिन्न सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक रूपरेखावाले राष्ट्रोंके अनेक व्यावहारिक उदाहरण भी मौजूद हैं। भारतको भी स्वाभाविक रूपसे इन्हीं उदाहरणोंका सहारा लेना पड़ा। संविधानके नामपर अंग्रेजोंने अपनी इच्छानुसार जो अनेक कानून बनाये थे, उनके अतिरिक्त देशको किसी संविधानका अनुभव न था।

प्राचीन कालके महान नीतिज्ञोंका देश उदाहरण प्रस्तुत कर सकता था, पर उनके सिद्धान्त अब लागू नहीं होते थे।

भारतके पूंजीजीवियोंने इन सभी साधनोंका सहारा लेनेका निश्चय किया। पूँजी-वादी देशोंसे मौलिक स्वतंत्राताएँ तथा समाजवादी देशोंसे मौलिक अधिकार ग्रहण किये थे। यह सत्य है कि 'स्वतंत्रता' और 'अधिकार' शब्दोंका भारी दुरुपयोग हुआ है, पर प्रारूप संविधानमें उन्हें सविवरण अनुसूचित करना एक अग्रिम कदम था। यही बात कुछ निर्देशक सिद्धांतोंके बारेमें कही जा सकती है, जिनके द्वारा अनेक जातियोंमें विभक्त हिन्दू समाजके बहुत दिनोंसे रुके हुए सुधारोंका रास्ता खुल गया। यह सब आकस्मिक विचारोंका परिणाम नहीं, वरन यथार्थ रूपमें सफलता थी, लेकिन उसकी जड़ें राष्ट्रीय आन्दोलनकी आत्मा एवं परंपरामें गहरी जमी हुई थीं।

इस प्रारूपमें कुछ ऐसी भी बातें थीं, जिनसे प्रगति रुकनेका डर था। जिन लोगोंकी भूमि, उद्योग और व्यक्तिगत संपत्ति राज्य द्वारा हस्तगत करनी पड़ जाय, उनका मुआवजा देनेके लिए विश्वास दिलाया गया था। ऐसे वायदे कागजपर अच्छे लगते हैं, पर भारत जैसे पिछड़े हुए गरीब देशमें इसके कारण ऐसी व्यवस्था जारी रखनेके लिए पोल रह जाती है, जिससे देशकी सर्वतोमुखी तीव्र प्रगति रुक जाय। जिसके पास पैसे न हों, ऐसी सरकारके लिए मुआवजा दे पाना केवल स्वप्न-सा है।

लेकिन पूँजीजीवियोंसे यह आशा करना कि वे अपनी शक्तिकी आधारभूत आर्थिक व्यवस्थाको पूर्णरूपेण नष्ट कर देंगे, बहुत असंभव था। इसके अतिरिक्त इस समय काँग्रेस पार्टीके विभिन्न दलोंके मतभेदोंने वास्तवमें अपना निश्चित रूप धारण करना शुरू नहीं किया था, यद्यपि इन मतभेदोंके कीटाणु संविधानके प्रारूपमें उसके प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी तत्वोंमें दिखलाई पड़ते थे। जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेसके इतिहासका अच्छी तरह अध्ययन किया है आर ब्रिटिश साम्राज्यवादके विरुद्ध संघर्ष के दरम्यान उसके वायदोंका ध्यान रखा है, उनके लिए संविधानके स्वरूपमें ऐसी अनेक भारी खामियाँ भी थीं। वयस्क मताधिकार स्वीकृत हो गया था, पर उस पवित्र वायदेका कहीं उल्लेख नहीं था, जिसके अनुसार कृषि योग्य भूमि

जोतने वालोंको वापस देनी थी। इस वादेकी पूर्ति होनेपर देशकी दशा बदल जाती तथा अर्थव्यवस्थापर ज़मीन्दारोंकी पकड़ दूर हो जाती।

उन्नतिके नये क्षेत्र देख लिए गये थे, पर भारतमें लगी हुई विदेशी पूँजीके भविष्यके बारेमें कोई जिक्र नहीं था, (अर्थव्यवस्थामें प्रमुखताके कारण यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था।)

स्वतंत्र गणतंत्र घोषित होनेके उपरान्त भी ब्रिटिश कामनवेल्थसे गठवन्धन बनाये रखनेका निर्णय भी कुछ कम घृणास्पद न था।

१९४८ और १९४९ में साम्यवादी पार्टी द्वारा इन खामियोंके विरुद्ध जनमतका निर्माण एक महत्वपूर्ण कार्य होना चाहिए था। दुर्भाग्यवश इस हेतु वामपक्षियोंमें संयुक्त दृष्टिकोण बनानेके लिए कोई सही प्रयत्न नहीं किया गया। यदि यह होता तो प्रजातंत्रमें यथेष्ट दृढ़ता आ जाती। इसके विरुद्ध पूरे संविधानका विरोध किया गया, जो प्रथम तो एक गलत मार्ग था और स्पष्टतया गैरक़ानूनी और असंगठित आंदोलनोंके लिए वहुत बड़ा कार्य था।

यदि प्रत्येक मदको सफेद या स्याह मानकर चलनेका दृष्टिकोण न होता, तो उन विवादास्पद दिनोंमें भी कॉंग्रेस पार्टीके नेताओंपर उनकी त्यागी हुई कुछ प्रतिज्ञाओंको पूरी करनेके लिए जनमतका पर्याप्त दवाव डालना सम्भव हो जाता, यह तो होना ही नहीं था। हुआ यह कि जसा कॉंग्रेस पार्टीके हाई कमांडने चाहा उसीके अनुसार प्रारूपपर विवाद आगे बढ़ा।

विधान निर्मात्री परिषदके बाहर भी कॉंग्रेस पार्टी सो नहीं रही थी। यदि राजाओं तथा सामंती सांप्रदायिक सहयोगियोंको अपनी शक्ति बढ़ाने दी जाती, तो वह संविधान जिसे वे बना रहे थे, लागू न हो पाता। इसके क्षेत्र बनानेके लिए यह फैसला हुआ कि नई परिस्थितिमें उन्हें अशक्त बना दिया जाय।

आक्रमण करनेके लिए नरेश इससे अधिक अरक्षित कब हो सकते थे। उनके सहयोगी (हिन्दू महासभा, जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) गांधीजीके बलिदानके उपरांत अपना सिर उठानेकी स्थितिमें न थे। सांप्रदायिक दलोंके फौजी खंड गैरक़ानूनी घोषित कर दिये गये थे। राजाओंमें भी अगला कदम उठानेके

बारेमें मतभेद था। कुछ नरेश स्वतंत्र भारतमें सम्मिलित किये जानेके विरुद्ध अंत तक लड़नेको तैयार थे। दूसरोंने समझौता करना ठीक समझा और नवा नगरके जामसाहबकी सलाह सुनना पसंद किया। अन्तमें उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य-वादके प्रति श्रद्धा प्रकट करनेका निर्णय किया और आशाके विपरीत यह सोचा कि दिल्लीके कार्यांपर लंदन रोक लगा लेगा। पर भारतीय पूँजीजीवी भी विलंबके खतरोंसे परिचित थे। व्यापारके समान राजनीतिमें भी लंदनके समान धनी और चालाक सहायक रखनेवाले प्रतिद्वन्द्वीको वे नहीं चाहते थे।

काँग्रेस पार्टीके सर्वाधिक योग्य और सोच-समझकर कदम उठानेवाले नेता सरदार वल्लभभाई पटेल पर स्वतंत्र रियासतोंको विलीन करके प्रमुख भारतके सीमावर्ती क्षेत्रोंसे मिला डालनेकी जिम्मेदारी डाली गई। कुछ छोटी कुछ बड़ी कुछ नकशेपर एक बिन्दुके समान सैकड़ों रियासतें उनकी जाँचके लिए सामने आईं।

उन्होंने इस कामके लिए कोई लम्बा-चौड़ा कमीशन नियुक्त नहीं किया, जो आगे पीछे सोचकर एकीकरणके लिए एक मोटी रूपरेखा सुझाता। उन्होंने वह काम उसी तरह शुरू कर दिया जैसा कि अंग्रेज करते और उसे बड़ी सुन्दरतासे थोड़े समयमें एवं वास्तवमें बड़े प्राजतांत्रिक ढंगसे संपन्न कर दिया।

प्रथम तो राजाओंमें फूट डालना और उनके एक प्रभावशाली दलका इस बातपर विश्वास पैदा करना जरूरी था कि यह बात सामंतोंके हितकी होगी कि वे परिवर्तित परिस्थितियोंमें अपने लिए एक सुरक्षित स्थान प्राप्त कर लें। इसके साथ ही साथ उन्हें यह भी बतलाया गया कि ऐसा न करनेकी दशामें उनकी निरंकुश स्थिति, जनताका क्रोध और तीव्र आलोचनाका लक्ष्य होती जायगी। यह सीधी-सीधी बात थी और यों कहना चाहिए कि अनेक मुख्य राजाओंने इसीके अनुसार आचरण करना स्वीकार कर लिया। समस्त भारतके लिए कोई आज्ञा प्रसारित नहीं की गई। यह बतलाया गया कि प्रत्येक समस्यापर उसके महत्वकी दृष्टिसे पृथक विचार किया जायगा।

नरेशोंके प्रति चिंता व्यक्त करते हुए भारत सरकारने यह भी घोषणा कर दी थी कि सामंती दुनियाके कुछ प्रमुख राजाओंको देशके प्रशासनमें महत्वपूर्ण स्थान दिये

जायँगे। अन्तमें भूतकालके इन अवशेषोंको भारी पेंशन और हरजानेका लोभ दिया गया। पैसा तो उनकी हमेशाकी चाभी थी। वे आलसियोंकी तरह शान-शौकतकी जिंदगी बितानेके अतिरिक्त और किसी बातके योग्य न थे।

एकीकरण योजना कार्यरूपमें परिणित हुई। सामंती दुर्ग टूटने लगे। उनका आत्मसमर्पण बारी-बारीसे होने लगा और जिनपर आसानीसे विजय पाई जा सकती थी, उन्हें पहले खतम किया गया। यह विलीनीकरण चार प्रकारका हुआ। प्रथम तो २१६ रियासतें जिनका कुल क्षेत्रफल ८४७७४ वर्ग मील तथा जनसंख्या १ करोड़ २० लाखसे ऊपर थी, सीमावर्ती प्रान्तोंमें अर्थात् उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बरार, बिहार, मद्रास, पूर्वी पंजाब तथा बम्बईमें विलीन कर दी गई। दूसरे कुल १६०६१ वर्ग मील क्षेत्रफलकी २२ रियासतें मिलाकर हिमाचल प्रदेश नामकी एक नई इकाई बनाई गई। तीसरे २६४ रियासतोंकी सीमायें मिलाकर सौराष्ट्र, मध्यभारत और पेप्सू नामक बड़ी इकाइयाँ बनाई गईं, जिनका क्षेत्रफल १५०,४०० वर्ग मील और जनसंख्या लगभग २ करोड़ ४० लाख थी। अंतमें हैदराबाद, मैसूर, ट्रावनकोर–कोचीन और दूसरी पृथक इकाइयाँ बनीं जो इस रियासती दुनियामें प्रमुख थीं।

जिस समय विलीनीकरणकी यह प्रक्रिया जारी थी, तब शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद इस घटनाकी वास्तविकताके प्रति सचेत हुआ। पहले उन्होंने सोचा कि सामंती शक्तिके विरुद्ध साम्यवादियोंके बढ़ते हुए संघर्षोंको दबानेके लिए रियासतोंका रूप बदल रहा है। एक अर्थमें इसके कारणोंमें यह भी एक कारण था, क्यों कि सामंती शक्तिके प्रमुख दुर्ग हैदराबादमें साम्यवादी पार्टीने निजाम तथा उनके जागीरदारोंके विरुद्ध संघर्षका सफल नेतृत्व किया था, जिसके कारण उन्हें दक्षिणके पठारपर एक ओर स्थित तेलंगाना प्रदेश छोड़नेपर विवश होना पड़ा था। यहाँके सुसंगठित और आत्मविश्वासी किसानोंने न केवल छीनी हुई भूमिका आपसमें बँटवारा कर लिया था, वरन् हथियारोंके द्वारा अपने लाभकी रक्षा भी की थी। निजामके रजाकार गुंडे तथा अल्प सज्जित सिपाही इस भारी भूभागमें प्रवेश भी नहीं कर पाते थे। ४० लाखसे अधिक आबादीवाले २ हजार गांवोंमें निजामका शासन समाप्त हो गया था। १३००० वर्ग मीलके इस क्षेत्रमें जहाँ पहले ५०० से १२०,००० एकड़

भूमिवाले जागीरदार कानूनी और गैरकानूनी लगानोंसे किसानोंको लूटा करते थे, वहाँ अब जनताका राज्य था।

यदि तेलंगानामें परिस्थितिवश जो अवस्था हुई, वह न हुई होती, तो संभव है कॉंग्रेस पार्टी राजाओंके विरुद्ध फुरसतसे कार्यवाही करती, क्योंकि काश्मीरयुद्धकी जवाबदारियोंने किसी हद तक उनके हाथ बाँध दिए थे। साम्यवादियोंके दबावके कारण कॉंग्रेसकी रफ्तार तेज हुई और अंग्रेजोंने सोचा कि अब 'हाल्ट' कहनेका समय आ गया है।

हैदराबाद, करांची और लंदनके बीच आवागमन जारी था। कानूनी सलाहकारके रूपमें वाल्टर मोंकटन इधर-उधर दौड़ रहे थे। पाकिस्तान और थाईलेंडसे ब्रिटिश और अमेरिकन युद्धसामग्री वायुमार्गसे हैदराबाद पहुँचाई जा रही थी। भारतके नगरोंपर बम-वर्षाकी बात-चीत हो रही थी। निजाम अधिक टेढ़े हो रहे थे और दिल्लीकी आज्ञाओंका उलंघन करते हुए अंत तक मुकाबला करनेकी धमकी दे रहे थे। परिस्थिति गभीर थी।

जुलाई १९४८ में विंस्टन चर्चिल द्वारा भारत सरकारकी नीतिकी आलोचनाके कारण सरदार पटेल भी इस गोपनीयताके पर्देको हटाकर रहस्योद्घाटनके लिए विवश हुए। विधान निर्मात्री परिषदमें बोलते हुए उन्होंने बतलाया कि "हम अच्छी हैसियतके अंग्रेजों द्वारा अपने प्रशासन, नेताओं और निवासियोंकी अप्रत्याशित, द्वेषपूर्ण और खुराफाती आलोचनाओंको बहुत दिनों तक शांतिके साथ सुनते रहे ..." आगे उन्होंने पहली बार यह स्वीकार किया कि "हमें भारत और युनाइटेड किंग्डम दोनोंमें स्थित निहित स्वार्थों द्वारा भारतकी अधिक कठिन परिस्थितिको उत्तराधिकारके रूपमें सौंपनेसे संबन्धित चालोंका अच्छी तरह पता था। भारतको बलकान राष्ट्रोंकी तरह विभाजित करनेका सक्रिय प्रयत्न किया गया था। बड़े पैमानेपर शांति-भंगकी स्थिति पैदा की गई।"

और अन्तमें कॉंग्रेस पार्टीके लौह पुरुषने सचेत किया कि "वर्तमान भारतीय इतिहासका कोई भी गंभीर विद्यार्थी यह धारणा बनानेमें नहीं चूक सकता कि देशके विभाजन तथा उसके साथ आनेवाली मुसीबतें उस दलकी फूट डालनेवाली

कारगुजारियोंका परिणाम थीं, जिसके प्रेरक और उद्घोषक मि. चार्चिल हैं। इस कारण मि. चार्चिल और उनके पिट्ठुओंको इतिहासके न्यायालयमें इन दुखांत घटनाओंके सम्बन्धमें जवाब देना पड़ेगा।"

यह वाक्‌योजना बड़ी सख्त और एक अल्टीमेटमकी तरह थी। पीछे लौटना नहीं हो सकता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा उसका सर्वाधिक विश्वासपात्र मित्र निजाम बहुत पीछे रह गये। अब तक लगभग सारा रियासती भारत घुटने टेक चुका था। साथ ही दिल्ली सरकार काश्मीरके युद्धमें एक ग्रंथि उत्पन्न करनेके लिए यथेष्ट सतर्क थी। राष्ट्रसंघकी छत्र-छायामें वार्ता चालू हो चुकी थी तथा साम्राज्य-वादियों द्वारा ध्यान बँटानेके लिए कोई नई परिस्थिति पैदा करनेकी आशा बहुत कम थी।

थोड़े दिनों बाद १३ सितम्बर १९४८ को पर्याप्त राजनैतिक और सैनिक तैया-रीके उपरान्त भारतके सशस्त्र सैनिकोंने पुलिस कार्यवाही की। हैदराबादका प्रतिरोध बालूकी दीवारकी तरह समाप्त हो गया। भारतमें सामंतवादके अंतकी घंटियाँ बज उठीं। अब पूँजीजीवी परिस्थितिके स्वामी थे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालयके दीक्षांत समारोहके अवसर पर नवम्बरमें सरदार पटेल यह कहनेकी स्थितिमें आ गये कि "हमें कठिनाईसे प्राप्त इस एकताको दृढ़ करना चाहिए। ... हमें उन बातोंपर ध्यान देना चाहिए, जिनसे एकता स्थापित होती है, न कि उन बातोंपर जिनसे भेद बढ़ता है।"

एकता प्राप्त करनेके इस नाजुक समयके दरम्यान भारत सरकारको ब्रिटेन तथा अमेरिकाको अनेकों बार यह विश्वास दिलाना पड़ा कि उनके लिए कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं की जायगी। यह विश्वास उत्पन्न कराना आवश्यक था। लार्ड कर्जनके शब्द अब भी सत्य थे। अपनी पुस्तक 'सुदूर पूर्वकी समस्या' में उन्होंने लिखा था कि "दुनियाँके गोलेके तीसरे अत्यन्त महत्वपूर्ण भागके युद्धोपयोगी केन्द्रमें भारतीय साम्राज्य स्थित है। ...लेकिन उसकी केन्द्रीय और नियंत्रक स्थितिका प्रभाव उसके पास तथा दूरके पड़ोसियोंके भाग्यपर पड़ने वाले प्रभाव एवं भारतीय धुरी पर घूमनेके कारण उनके भाग्य-परिवर्तनसे अच्छी तरह और कहीं दिखलाई नहीं पड़ता।" इस दुनियाँके गोलेके इस तीसरे अत्यन्त महत्वपूर्ण भागमें भारी

जिम्मेदारियोंके उपरांत भी भारतीय धुरीपर नियंत्रण न रहनेके कारण सम्राज्यवादको भारी चिन्ता होनी ही चाहिए थी।

अप्रैल १९४७ में दिल्लीमें होनेवाली 'एशियन रिलेशन कॉंग्रेस' में श्री नेहरूने इन राष्ट्रोंकी भावनाओंको बतलाते हुए कहा था कि "हम एशियावासी बहुत दिनों तक पश्चिमी न्यायालयों और मंत्रालयोंमें दरख्वास्तें देते रहे, अब यह कहानी पुरानी पड़ जायगी। हम अपने परोंपर खड़ा होने तथा उन लोगोंसे सहयोग करनेको तैयार रहेंगे, जो हमसे सहयोग करना चाहते हैं। हम दूसरोंके हाथोंके खिलौने नहीं रहना चाहते।"

फिर भी राष्ट्रसंघमें भारतीय प्रवक्ता थोड़े-बहुत पीछे चलते रहे। जिन मामलोंमें उनके विचार साम्राज्यवादियोंसे मेल नहीं खाते थे, उनमें होशियारीसे वे अपना हाथ खींच लेते थे। फिर भी इससे आशा बँधती थी।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थामें विदेशी पूँजीको घरेलू क्षेत्रमें अपनी स्थिति कायम रखनेका विश्वास दिलाया गया। भारत और उसके पड़ोसी देशोंमें अँग्रेजोंकी भारी पूँजी लगी होनेके कारण यह एक महत्वपूर्ण तत्व था। साम्यवादी पार्टीपर रोक लगा दी गई। हड़तालें पसंद नहीं की जाती थीं। पुराने प्रशासनका फौलादी ढाँच बना रहा। यहाँ तक कि देशकी सेनाओंमें भी कमसे कम दो सौ से तीन सौ तक अंग्रेज अफसर महत्वपूर्ण पदोंपर बने रहे।

यह सब बातें यह बतलानेके लिए नहीं लिखी गई हैं कि इस प्रकारकी आंतरिक और बाह्य नीति भारतके नये शासकोंको नापसंद थी। भारतीय पूँजीजीवियोंने पश्चिमसे भाई-चारा बनाये रखनेके लिए इस प्रकारकी नीति अपनाकर यह आशा बाँधी कि मधुमास बना रहेगा। यह बात लाभप्रद और बुद्धिमानी की थी।

लेकिन १९४९ के आरंभमें साम्राज्यवाद चिंतित हो उठा। इसका एक प्रमुख कारण भारतीय पूँजीजीवियोंका शीघ्रतापूर्वक संगठन था। यह महत्वपूर्ण बात थी और नये संविधान द्वारा भारत अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय मामलोंमें स्वावलंबनकी ओर अग्रसर होता दिखाई पड़ रहा था। यह साफ दीखने लगा कि इस स्थितिके कारण वह

साम्राज्यवादी हितोंके अधिकाधिक संघर्षमें आयेगा। मधुमासको शांतिके साथ व्यतीत करनेकी आशा कम थी।

राजनैतिक गठबन्धनमें नया भारत बराबरीका दर्जा चाहता था। वह ऐसी 'सहायता लेनेमें झिझक रहा था, जिसके कारण उसे अपनी स्वतंत्रतासे समझौता करना पड़े। इसके अतिरिक्त एशियाके दूसरे देशोंको भी औपनिवेशिक बंधनोंसे मुक्त करना चाहता था। इस मामलेपर १६ राष्ट्रोंके हिन्देशियाके बारेमें दिल्लीमें होनेवाले अधिवेशनमें गरमागरम बहस हुई। नेहरूजीने थोड़े शब्दोंमें दुबारा यह दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए कहा कि "दूसरे देशोंपर आश्रित, आज्ञाकारी उनके हाथका बहुत पुराना खिलौना एशिया अब अपनी स्वतंत्रताके बारेमें उनका कोई हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता।" लार्ड कर्जनकी 'भारतीय धुरी' अब स्थान-भ्रष्ट होती मालम पड़ी।

भारत सरकारके साम्यवाद विरोधी लेखाका प्रदर्शन या और कोई अन्य आचरण साम्राज्यवादियोंको भयमुक्त न कर सके। इस संबन्धमें 'न्यू स्टेट्समेन' और 'नेशन'के संपादक किंगले मार्टिनने एक महत्वपूर्ण तत्व बतलाया। उन्होंने लिखा था कि "मुझे एक महत्वपूर्ण सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि भारतमें कमसे कम एक लाख कम्युनिस्ट तथा अन्य लोग कैद हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रीय सरकार द्वारा इतने आदमी बिना मुकदमा चलाये कैद किये गये हैं; जितने अंग्रेजोंने शायद ही किसी समय किये हों।"

साम्राज्यवादने सोचा कि यह हो सकता है, पर भारतमें विश्वशांति और भातृ-भावकी बात-चीत जोरोंपर हैं। क्या राजगोपालाचारीने युद्धको गैरकानूनी घोषित करनेके लिए नहीं कहा था? ऐसी भावनाओंमें साम्यवादको संतुष्ट करनेकी गंध आती थी! भारत भले ही ब्रिटिश कामनवेल्थमें रहना स्वीकार कर ले, पर उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उसे एक-दो पाठ पढ़ाने ही चाहिए। दिल्लीको कूट-नीतिक सूत्रों द्वारा इस बात-चीतकी चेतावनी मिल गई कि क्या होनेवाला है।

लेकिन ज्योतिषीके शब्दोंमें 'ग्रह अच्छे थे।' वह चीनकी शक्तिशाली भूमिपर होनेवाली उथल-पुथलसे क्रोधित हो उठे। एशियाके शक्ति संतुलनमें

नाटकीय परिवर्तन हो गया। भारी संभावनाओंसे पूर्ण कम्युनिस्ट चीनके उदयकी घटनाने साम्राज्यवादी शक्तियोंको क्षीणकर दिया और बुरी तरह दबाये हुए औपनिवेशिक लोगोंमें — विशेष रूपसे भारत, बरमा और हिन्देशिया वासियोंमें जिन्होंने स्वतंत्रताकी शक्तिका पहली बार अनुभव किया था; नई शक्तिका संचार हुआ।

राजनीतिमें अशिक्षित कुछ लोग जिस प्रकार हमें विश्वास दिलाना चाहेंगे, उस प्रकार दिल्ली द्वारा कम्युनिस्ट चीनकी वकालत तथा राष्ट्रसंघमें उसके प्रवेशके लिए मार्ग बनाना किसी खास व्यक्तिकी कल्पनाकी आकस्मिक उपज न थी। यह नीति भारत तथा उन अनेक गैरकम्युनिस्ट देशोंके राष्ट्रीय हितोंसे संबद्ध थी, जिनपर साम्राज्यवादी दबाव अब भी मौजूद था और जो उसके सामने अपने आपको अरक्षित पाते थे। के. एम. पन्नीकरके शब्दोंमें ' माउत्से-तुंगके नेतृत्वसे रशिया-वासियोंका अंतर्राष्ट्रीय महत्व बढ़ गया है। " वे यह भी कह सकते थे कि साम्य-वादी चीनके अस्तित्वको एक नया बल मिला है।

कम्युनिस्ट चीनके प्रति एशियाके इस दृष्टिकोणके निर्माणमें भारतने नेतृत्व किया, क्योंकि यहाँ का सत्ताधारी वर्ग एशियाको इससे होनेवाले लाभको शीघ्रतासे समझ सका। नेहरूजी ऐसे अवसर छोड़नेके अभ्यस्त न थे। इसके बहुत पहले ४ दिसंबर १९४७ को ही उन्होंने स्पष्ट रूपमें कहा था कि " आप कोई भी नीति निर्धारित करें, पर देशके विदेशी मामलोंको संपादित करनेकी कला इसी बातमें सन्निहित है कि आप यह जान सकें कि सबसे अधिक फायदेकी बात क्या होगी। हम अंतर्राष्ट्रीय सौहाद्रताकी बात कर सकते हैं और जो कहते हैं, उसके अनुसार काम कर सकते हैं, पर ध्यानसे देखने पर मालूम पड़ेगा कि किसी भी देशकी सरकार अपने देशके लाभके लिए कार्य करती है और कोई सरकार ऐसा काम करनेकी हिम्मत नहीं कर सकती, जिससे देशकी हानि हो। इस कारण चाहे देश साम्राज्यवादी, समाजवादी या साम्यवादी हो, उसका विदेशमंत्री अपने देशकी भलाईकी ही बात प्रमुखरूपसे सोचता है। "

इसी मापदंडके अनुसार भारतने आचरण करना शुरू कर दिया तथा इसी भाषणमें आगे कही हुई एक अन्य स्वीकारोक्तिको हमेशा याद रखा, जिसमें उन्होंने कहा था

कि " अंतमें विदेशी नीति आर्थिक नीतिका परिणाम होती है और जब तक भारत अपनी आर्थिक नीति ठीक प्रकारसे निर्धारित नहीं करता, उसकी विदेश-नीति भी अस्पष्ट अपरिपक्व और लक्ष्यभ्रष्ट बनी रहेगी । "

१९४९ के उत्तरार्धमें स्पष्ट होनेवाली अंतर्राष्ट्रीय स्थितिपर यहाँ दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा । शक्तियोंके पारस्परिक संबन्धोंमें एक बहुत बड़ा निर्णयात्मक परिवर्तन हो गया था । कामगारोंके प्रथम राज्य, रूसकी स्थापनाके समय तक साम्राज्यवादी शक्तियोंको कुचलनेके लिए सारा विश्व मौजूद था । अफ्रीका और एशियाके साधनों तथा परिश्रमोंका लाभ क्रूरतापूर्वक जितना वे वसूल कर पाते थे वसूल करके वे मोटे हुआ करते थे । उन्होंने अपनी ' प्रजातांत्रिक ' तथा ' उदार ' संस्थाओंकी स्थापना दूर-दूर तक फैले इन उपनिवेशोंमें मेहनत और आँसू पैदा करनेवाले दमनके आधारपर की थी ।

इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं, यदि उन्होंने बोलशेविक क्रांतिको ' एक दैत्य ' के रूपमें देखा हो और अपनी सेनायें सुसंगठित करके इस नवजात कामगारोंके राज्य पर इस विश्वासके साथ आक्रमण किया हो कि वे इसके सामने अधिक टिक न सकेंगे, पर वे टिक गये और आशाके विपरीत दृढ़ताके साथ सामना किया । दखल देनेवाली सेनायें हार कर पीछे हट गईं ।

पर साम्राज्यवाद शांत होनेवाला न था । ब्रिटेन और अमेरिकाकी मददसे जर्मन सैनिकवादको पुनर्जीवित किया गया । बोलशेविक खतरेका उत्तर फासिस्टवाद था । यह हथियार भी द्वितीय विश्वयुद्धके संकटपूर्ण वर्षोंमें निकम्मा होकर नष्ट हो गया ।

सोवियत संघको हिटलरकी फौजोंका मुख्य आक्रमण सहना पड़ा । लाखों आदमी मारे गये । एक दशाब्दीके लाभ तलवार और अग्निकी भेंट चढ़ गये । पर साम्राज्यवादको समाजवादकी सीमाओंका विस्तार होते हुए देखकर भय हुआ । युद्धकी राखसे पूर्व यूरोपमें अनेक जनप्रजातांत्रिक राज्योंने जन्म लिया ।

और जब चीनने भी साम्राज्यवादका जुआ उतार फेंका, तो सभी देशोंके दर्शकोंको यह स्पष्ट दीखने लगा कि समाजवाद अब टिक जावेगा और संपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ विश्वके सभी लोगोंको इसी रास्तेपर ले जायँगी । इन विचार

धाराओंका तत्कालीन प्रभाव एशियाकी भूमिपर दीखने लगा, जहाँ उपनिवेशवादके तांडवका प्रदर्शन भुखमरी और नग्नताके रूपमें हो रहा था।

अब तक स्वतंत्र विचारधारावाले एशियावासियोंको राजनैतिक और आर्थिक रूपसे बदनाम किया जाता था। एक एक करके उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा था। अणुबम धारी; जिनकी शक्तिका नृशंस प्रदर्शन हीरोशिमा और नागासाकीमें उस समय हुआ था, जापान-संधि-प्रस्ताव कर चुकनेके बाद अब यह सोचने लगा कि विश्वको अपने अधिकारमें लेनेके उनके रास्तेमें अब कोई रुकावट नहीं आ सकती।

पर नवजात चीनके उदाहरणका प्रभाव पड़ा। संयुक्तराज्य अमेरिकाके पिट्ठू चांग काई शेकके क्यूमिनटांगको साहसी देशवासियोंका नेतृत्व करनेवाली साम्य-वादी पार्टीने हरा दिया। अपने उत्पीड़कोंके हथियारोंपर कब्जा करके चीन-वासियोंने पेकिंगपर अपनी सार्वभौमिकता और शक्ति स्थापित कर ली। साम्राज्य-वादको विश्वास हो गया कि एशियाके दूसरे देशोंको अब परास्त करना आसान न होगा। ऐसे व्यवहारका यह प्रभाव पड़ेगा कि यह देश भी अपनी समस्या-ओंका हल उसी रूपमें ढूँढ़नेका प्रयत्न करेंगे, जिसमें चीनको बड़ी अच्छी सफलता मिली है।

१९४९ में उपस्थित इस चैलेंजका सामना साम्राज्यवादने ऐसे दुधारी आक्रमणसे किया, जिसके बारेमें वे सोचते थे कि उसका सामना करना संभव नहीं होगा।

प्रथम आक्रमण सैद्धांतिक था। साम्यवादको बड़े वीभत्सरूपमें चित्रित किया गया। एशियाके शासकवर्गको यह बतलाया गया कि यदि वह 'सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान' क्रेमलिनके प्रभावमें आ जायँगे, तो उनका क्या होगा। समाचार-पत्रोंमें इस प्रकारके झूठे प्रचारकी बाढ़-सी आ गई। इस प्रचारका मुख्य उद्देश्य, यह प्रमाणित करना था कि चीन अब सोवियट संघका अड्डा बन गया है।

इस आक्रमणका बहुत थोड़ा लोभ हुआ। एशियाकी साम्राज्यवादी स्मृति इतनी स्पष्ट थी कि उसे इस प्रकारके मिथ्या प्रचारसे नहीं भरमाया जा सकता था। अमे-रिकाकी उत्तेजनाओंके विरुद्ध कम्युनिस्ट चीनके दृढ़ कदमके कारण उन लाखों व्यक्तियोंकी प्रशंसा प्राप्त हुई, जिनकी सदियों पुरानी निराशा यह थी कि वे अपने

श्वेत उत्पीड़िकोंके मुँहसे निकलनेवाली गालियों और दुव्यवहारों पर रोक नहीं लगा पाते थे। ऐसी बंजर भूमिपर इस प्रकारका निरर्थक बालोचित मिथ्या प्रचार जड़ नहीं जमा सकता था।

आक्रमणका दूसरा दौर 'सहायता' के नाम पर हुआ। विचार यह था कि यदि वादविवादसे आप किसी मसलेको हल नहीं कर सकते, तो पैसेसे वह काम हो जायेगा। यह सफल हो जाता, पर यहाँ भी साम्राज्यवादी भूख उस 'सहायता' के नामपर कुछ शर्तें लगानेके पीछे पड़ी थी। बंधनोंसे मुक्त होनेवाले एशिया-वासियोंसे केवल अभी हालमें जीती हुई सार्वभौमिकताका कुछ भाग छोड़नेके लिए ही नहीं वरन् समाजवादी दुनियाँके विरुद्ध शीतयुद्धमें भी सम्मिलित होनेके लिये कहा गया। और इसका अथ 'प्रतिरक्षा संधियाँ' नामधारी समाभैतोंमें सम्मिलित होना ही न था, बल्कि उसका अथ आर्थिक और राजनैतिक बायकाट भी था, जिसका सीधा-सादा मतलब अविकसित देशोंको साम्राज्यवादी बाजारकी दया पर अरक्षित करना था।

पहले आक्रमणसे यह आक्रमण अधिक सफल रहा, क्यों कि कुछ एशियायी देशके शासकोंने 'सहायता' स्वीकार करनेके अंदर विद्यमान संकटको अच्छी तरह देख नहीं पाया तथा मनोवैज्ञानिक रूपमें वे 'प्रचारक, शोषक, साम्यवादियों'के बारेमें बात करनेके लिए तैयार थे।

ऐसी सहायताके द्वारा अनेक सरकारोंको नष्ट करना था, पर भारतने उसके विरोधका नेतृत्व किया। उसे 'सहायता' की भारी जरूरत थी, पर ऐसी सहायताकी नहीं, जिसके साथ कुछ बंधन हो। भारतके पूँजीजीवी शासक जानते थे कि जनता सार्वभामिकताके किसी प्रकारके आत्मसमर्पणके बारेमें कोई दलील नहीं सुनेगी। यहाँ तक कि राष्ट्रमंडलके नाममात्रके बंधनकी भी भारी आलोचना हुई थी और कांग्रसपार्टीके समर्थकोंको इसकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए भारी कठिनाई उठानी पड़ी थी।

इसके अतिरिक्त एक अन्य तत्व भी था, जिसे भारतीय पूँजीजीवियोंने शीघ्रता-पूर्वक देखकर उसका लाभ उठाया। यह शक्तियोंके नये संतुलनमें भारतकी युद्धोप-योगी स्थिति थी। चीनके समाजवादी दुनियाके एक अंग बननेके उपरांत साम्राज्यवाद

केवल अपने खतरेके साथ ही भारतका विरोध कर सकता था, जो एशियाकी दूसरी एकमात्र महाशक्ति था। भारतके शासकोंने इस भयका फायदा उठानेकी सोचकर तटस्थताका पूरा लाभ उठाया।

यह तलवारकी धार पर चलना था। यदि यह नीति बहुत आगे तक कार्यान्वित की जाती, तो इस बातका डर था कि साम्राज्यवाद भारतमें भी उसी प्रकारके प्रयत्न करेगा, जो अबादानके तेलक्षेत्रके महत्वपूर्ण प्रश्नको लेकर वह ईरानमें कर रहा था। यदि यह नीति समाजवादी दुनियाके प्रति अधिक बेरुखी हो जाती, तो साम्राज्यवादके तीव्र विरोधी भारतवासी इसे राष्ट्रीय और एशियाके हितोंके प्रति विश्वासघात समझते। तलवारकी धारकी यह यात्रा बड़ी कुशलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

१६४६ में समाजवादी देशोंसे व्यापार चालू करनेकी बातचीत शुरू हुई। १६५० के आरंभमें साम्यवादका दमन भी धीरे-धीरे कम हो चला, यद्यपि उसके ऊपरसे रोक और उसकी गैरकानूनियत बहुत दिनों तक नहीं हटाई गई। कम्युनिस्ट चीनके प्रति भारतकी मित्रता और प्रेमपूर्ण संबन्धोंका भारी प्रदर्शन किया गया। यह सोचनेवाले लोगोंके लिए कि इस दिशामें भारत बहुत आगे बढ़ रहा है, तिब्बतके स्वशासनका प्रश्न जीवित रखा गया, जिससे मालूम पड़े कि निष्पक्षता अपना काम कर रही है।

प्रमुख झुकाव तो भावनाहीन पश्चिमकी ओर बना हुआ था। मार्च १६४६ में राष्ट्रपति ट्रूमनने भारतके प्रधानमंत्रीको अमेरिका भ्रमणके लिए आमंत्रित किया, यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया गया। इस महीनेके अन्त तक श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित वाशिंग्टनमें राजदूत नियुक्त की जा चुकी थीं। इस डालर भूमिमें नेहरूके आगमनकी पूरी तैयारी हो गई थी।

अक्टूबरमें ट्रूमनने इनका अभिवादन किया। इस अभिवादनके शब्द बड़ी कुशलतापूर्वक चुने गये थे। उन्होंने कहा था कि ' भाग्यकी यही इच्छा थी कि आपके देशको पहुँचनेके एक नये मार्गको ढूँढ़नेके प्रयत्नमें यह देश खोज लिया गया। मैं आशा करता हूँ कि आपकी यह यात्रा भी एक रूपमें अमेरिकाकी खोज होगी। " नेहरूजीने पूर्वी और पश्चिमी दुनियाके दो बड़े गणतंत्रों द्वारा एक दूसरेके दृष्टिकोणको परस्पर समझनेकी बात कही।

श्वेत उत्पीड़िकोंके मुँहसे निकलनेवाली गालियों और दुर्व्यवहारों पर रोक नहीं लगा पाते थे। ऐसी बंजर भूमिपर इस प्रकारका निरर्थक बालोचित मिथ्या प्रचार जड़ नहीं जमा सकता था।

आक्रमणका दूसरा दौर 'सहायता' के नाम पर हुआ। विचार यह था कि यदि वादविवादसे आप किसी मसलेको हल नहीं कर सकते, तो पैसेसे वह काम हो जायेगा। यह सफल हो जाता, पर यहाँ भी साम्राज्यवादी भूख उस 'सहायता' के नामपर कुछ शर्तें लगानेके पीछे पड़ी थी। बंधनोंसे मुक्त होनेवाले एशिया-वासियोंसे केवल अभी हालमें जीती हुई सार्वभौमिकताका कुछ भाग छोड़नेके लिए ही नहीं वरन् समाजवादी दुनियाँके विरुद्ध शीतयुद्धमें भी सम्मिलित होनेके लिये कहा गया। और इसका अथ 'प्रतिरक्षा संधियाँ' नामधारी समझौतोंमें सम्मिलित होना ही न था, वल्कि उसका अथ आर्थिक और राजनैतिक बायकाट भी था, जिसका सीधा-सादा मतलब अविकसित देशोंको साम्राज्यवादी बाजारकी दया पर अरक्षित करना था।

पहले आक्रमणसे यह आक्रमण अधिक सफल रहा, क्यों कि कुछ एशियायी देशके शासकोंने 'सहायता' स्वीकार करनेके अंदर विद्यमान संकटको अच्छी तरह देख नहीं पाया तथा मनोवैज्ञानिक रूपमें वे 'प्रचारक, शोषक, साम्यवादियों'के बारेमें बात करनेके लिए तैयार थे।

ऐसी सहायताके द्वारा अनेक सरकारोंको नष्ट करना था, पर भारतने उसके विरोधका नेतृत्व किया। उसे 'सहायता' की भारी ज़रूरत थी, पर ऐसी सहायताकी नहीं, जिसके साथ कुछ बंधन हो। भारतके पूँजीजीवी शासक जानते थे कि जनता सार्वभामिकताके किसी प्रकारके आत्मसमर्पणके बारेमें कोई दलील नहीं सुनेगी। यहाँ तक कि राष्ट्रमंडलके नाममात्रके बंधनकी भी भारी आलोचना हुई थी और काग्रसपार्टीके समर्थकोंको इसकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए भारी कठिनाई उठानी पड़ी थी।

इसके अतिरिक्त एक अन्य तत्व भी था, जिसे भारतीय पूँजीजीवियोंने शीघ्रता-पूर्वक देखकर उसका लाभ उठाया। यह शक्तियोंके नये संतुलनमें भारतकी युद्धोप-योगी स्थिति थी। चीनके समाजवादी दुनियाके एक अंग बननेके उपरांत साम्राज्यवाद

केवल अपने खतरेके साथ ही भारतका विरोध कर सकता था, जो एशियाकी दूसरी एकमात्र महाशक्ति था। भारतके शासकोंने इस भयका फायदा उठानेकी सोचकर तटस्थताका पूरा लाभ उठाया।

यह तलवारकी धार पर चलना था। यदि यह नीति बहुत आगे तक कार्यान्वित की जाती, तो इस बातका डर था कि साम्राज्यवाद भारतमें भी उसी प्रकारके प्रयत्न करेगा, जो अबादानके तेलक्षेत्रके महत्वपूर्ण प्रश्नको लेकर वह ईरानमें कर रहा था। यदि यह नीति समाजवादी दुनियाके प्रति अधिक बेरुखी हो जाती, तो साम्राज्यवादके तीव्र विरोधी भारतवासी इसे राष्ट्रीय और एशियाके हितोंके प्रति विश्वासघात समझते। तलवारकी धारकी यह यात्रा बड़ी कुशलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

१९४९ में समाजवादी देशोंसे व्यापार चालू करनेकी बातचीत शुरू हुई। १९५० के आरंभमें साम्यवादका दमन भी धीरे-धीरे कम हो चला, यद्यपि उसके ऊपरसे रोक और उसकी गैरकानूनियत बहुत दिनों तक नहीं हटाई गई। कम्युनिस्ट चीनके प्रति भारतकी मित्रता और प्रेमपूर्ण संबन्धोंका भारी प्रदर्शन किया गया। यह सोचनेवाले लोगोंके लिए कि इस दिशामें भारत बहुत आगे बढ़ रहा है, तिब्बतके स्वशासनका प्रश्न जीवित रखा गया, जिससे मालूम पड़े कि निष्पक्षता अपना काम कर रही है।

प्रमुख झुकाव तो भावनाहीन पश्चिमकी ओर बना हुआ था। मार्च १९४९ में राष्ट्रपति ट्रूमनने भारतके प्रधानमंत्रीको अमेरिका भ्रमणके लिए आमंत्रित किया, यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया गया। इस महीनेके अन्त तक श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित वाशिंगटनमें राजदूत नियुक्त की जा चुकी थीं। इस डालर भूमिमें नेहरूके आगमनकी पूरी तैयारी हो गई थी।

अक्टूबरमें ट्रूमनने इनका अभिवादन किया। इस अभिवादनके शब्द बड़ी कुशलतापूर्वक चुने गये थे। उन्होंने कहा था कि 'भाग्यकी यही इच्छा थी कि आपके देशको पहुँचनेके एक नये मार्गको ढूँढ़नेके प्रयत्नमें यह देश खोज लिया गया। मैं आशा करता हूँ कि आपकी यह यात्रा भी एक रूपमें अमेरिकाकी खोज होगी।" नेहरूजीने पूर्वी और पश्चिमी दुनियाके दो बड़े गणतंत्रों द्वारा एक दूसरेके दृष्टिकोणको परस्पर समझनेकी बात कही।

इस यात्रासे बहुत आशा की गई थी। अमेरिकाने केवल नेहरूको ही अपने पक्षमें करनेकी नहीं सोची थी, वरन धीरे-धीरे इस महत्वपूर्ण प्रदेशसे ब्रिटिश प्रभावको हटानेकी भी आशा की थी। पर नेहरूने भारतकी शांतिकी खोज तथा किसी ऐसे मामलेमें न फँसनेका इरादा बराबर व्यक्त किया, जिसका अर्थ किसी प्रकारके शीत-युद्धमें सम्मिलित होना था। उन्होंने कहा था कि "भारत स्वतंत्र राष्ट्रोंके परिवारमें किसीके प्रति द्वेष या शत्रुताके बिना सम्मिलित हुआ है और वह प्रत्येकका अभिवादन करने और अभिवादन करवानेके लिए तैयार रहेगा। वास्तवमें उसे अपनी विदेश नीति स्व-हित तथा विशाल दृष्टिकोण पर आधारित करनी पड़ेगी; पर इसके साथ ही साथ वह अपनी आदर्शवादिताका उसमें पुट देगा।"

इस प्रकारका दृष्टिकोण अमेरिकन प्रभुओंको प्रसन्न नहीं कर सकता था, जो युद्धके लिए पूर्ण रूपेण तैयार थे। यह वही दृष्टिकोण था, जिसके कारण अनेक प्रसिद्ध उदार अमेरिकनोंको मेकार्थियन दमनका शिकार बनना पड़ा था। यह वही दृष्टिकोण था, जिसके कारण अब्राहम लिंकनके देशमें अनेक स्त्री-पुरुषोंको जीविकाके साधनोंसे हाथ धोना पड़ा था।

जैसे जैसे यह मित्रतापूर्ण भ्रमण आगे बढ़ा, अमेरिकाके शासकोंके व्यवहारमें शीतलता बढ़ने लगी। लेकिन अमेरिकावासियोंमें यह बात नहीं थी। उनके उदार विचार जो उस क्षण कुचल दिए गये थे, भारतके इस व्यक्तिके प्रभावसे प्रतिध्वनित हो उठे। यदि अमेरिकाकी यात्राका कुछ परिणाम निकला तो यह कि उसने नेहरूजीको शीतयुद्धमें तत्कालीन संकटोंके प्रति अधिक जागरूक कर दिया। भारत वापस लौटनेपर उनकी यह धारणा स्पष्ट हो गई कि तटस्थताको अधिक प्रभावशाली होना चाहिए।

२८ नवम्बर १९४९ को इस यात्राके बारेमें बोलते हुए नेहरूजीने कहा कि अमेरिकाके कुछ जिम्मेदार व्यक्तियोंने भारतकी किसी दलमें सम्मिलित न होनेकी वर्तमान नीतिकी तारीफ की तथा कुछने उसको पसंद किया। उन्होंने जोर देते हुए कहा कि उनकी नीति उसी प्रकारकी है, जैसी नीति जार्ज वाशिंगटन तथा उस बड़े राष्ट्रके अन्य संस्थापकोंने शुरूमें अपनाई थी। उन्होंने जानबूझकर और निश्चित

रूपसे उन दिनों संसारकी समस्याओंसे अपनेको अलग रखा था।" यह शब्द-योजना बड़ी होशियारीपूर्ण पर निश्चित थी। इनका अर्थ समझनेमें कोई भूल नहीं कर सकता था।

फिर भी अमेरिकाके रियासती विभागके भुलक्कड़ राजनीतिज्ञोंने यही करना शुरू किया। अमेरिकन कॉंग्रेसके सामने नेहरूजीकी इस वक्तृताका जिसमें उन्होंने कहा था कि "जहाँ स्वतंत्रता अथवा न्यायके ऊपर विपत्ति आई हुई है अथवा जहाँ दमन हो रहा है, वहाँ न हम तटस्थ रह सकते हैं और न रहेंगे।" का जानबूझकर यह गलत अर्थ लगाया गया कि भारत वास्तवमें आंग्ल-अमेरिकन दलके साथ है। किसी हद तक यह धारणा आसानीसे इस बातको समझा देती है, कि भारतके प्रधानमंत्रीकी अधिक खुशामद क्यों नहीं की गई और उनकी तटस्थता पर गंभीरता-पूर्वक विचार क्यों नहीं किया गया, विशेषरूपसे उस समय जब कि अक्तूबर १९४९ में अमेरिकाकी यह यात्रा चीनके कम्युनिस्ट गणतंत्रकी स्थापनाके साथ ही साथ सम्पन्न हुई थी।

तलवारकी धारकी यात्राका अब प्रथम परिणाम मिलना शुरू हो गया। इस शीतयुद्धकी उलझनोंसे दूर लोगोंके जीवनको अधिक सुखप्रद और निर्भय बनानेकी पुरानी समस्याका तटस्थतामें एक समाधान मिल गया था और भारतको बाहर भी इसका समर्थन प्राप्त होने लगा

अमेरिकन सरकार गलत चालमें पकड़ ली गई थी और उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि इस विकट परिस्थितिमें आगे कैसे चला जाय। उसने आसान रास्ता पकड़ा। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वह कम्युनिस्ट चीन नामक दीमकको नष्ट करना चाहते हैं — एक ऐसी नीति जिसके पक्षमें ब्रिटेन नहीं था, क्योंकि वह कोई ऐसा साहसिक प्रयत्न नहीं करना चाहता था, जिसका परिणाम संदिग्ध हो। फ्रान्स भी इसी दृष्टिकोणका समर्थक था।

अमेरिकाके साथियोंका सीदा-सादा तर्क था। उपनिवेशोंमें ब्रिटिश और फ्रान्सको उनके कारण बहुत कठिनाई उठानी पड़ी थी, जिसका सामना उन्हें आकुलकारी डालरकी सहायतासे करनेकी आशा थी। इस नये साहसिक कार्यमें सम्मिलित होनेका

अर्थ होता अधिक सहायता और परिणामस्वरूप अधिक आकुलता ! क्योंकि सहायताका अर्थ था अमेरिकन विस्तारकी मददके लिए अधिक डिवीजन खड़े करना ।

एक वाक्यमें हम कह सकते हैं कि साम्राज्यवादी शक्तियोंकी मित्रतामें छिपे हुए अंतर काफी तेज़ीसे बढ़ने लगे थे । इसका परिणाम था एशिया और अब अफ्रीकाको भी अपने स्वतंत्र आचरणके लिए अधिकाधिक अवसर प्रदान करना ।

इस पृष्ठभूमिमें भारतके शासकोंने देशी रियासतोंका विनाश पूरा कर डाला तथा नये गणतंत्रके संविधानको अपना लिया । ये दोनों परिवर्तन आपसमें अच्छी तरह जुड़े हुए थे और केवल अनुकूल विश्व-परिस्थितिमें ही संभव हो सके ।

यह ठीक है कि हस्तांतरित सत्ता सुदृढ़ हो चुकी थी, पर अंग्रेजोंके उत्तराधिकारमें प्राप्त आर्थिक परिस्थिति अब संकटापन्न हो रही थी । अत्यंत आवश्यक पौंडपावना बुरी तरह खर्च हो रहा था । देशका खजाना युद्धकालीन मुद्रास्फीतके दुष्परिणामको अब भी अनुभव कर रहा था । अतमें विदेशी व्यापारिक धारा बढ़ रही थी । २६ जनवरी १९५० को स्वतंत्र सार्वभौमिक गणतंत्रकी स्थापनाके उपरांत इस परिस्थितिकी भीषणता नई समस्याएँ उपस्थित करनेवाली थीं ।

भारतमें होनेवाले परिवर्तनोंको न देख पानेके कारण देशकी कम्युनिस्ट तथा कुछ अन्य विरोधी पार्टियोंकी नीतिमें उलझन पैदा हो गई थी । वे अब भी नेहरूको भारतीय चांग काई शेकके रूपमें देखते थे । उनके लिए कॉंग्रेस पार्टी आंग्ल-अमेरिकाके इशारों पर चलनेवाले हथियारके रूपमें थी । क्या उसके नेताओंने विदेशी पूँजीसे सम्बद्ध विशेष रक्षण प्रदान नहीं किये थे? क्या उन्होंने एकके उपरांत दूसरी शपथोंको भंग नहीं किया था? क्या उन्होंने समाजवादी दुनियासे मित्रता स्थापित करनेकी संभावनाको खतम नहीं कर दिया था? क्या भारतवासियोंकी अवस्था कुल मिलाकर बिगड़ी नहीं थी? इस प्रकारके ऊपरी विवेचन तथा घटनाओंको एक दूसरेसे संबन्धित न करनेकी ज़िदने कम्युनिस्ट पार्टीको अंधा कर दिया और राष्ट्रीय परिस्थितिमें प्रकट होनेवाली नई शक्तियोंको समझनेसे उन्हें रोका ।

पर पूँजीजीवी परिवर्तित परिस्थितियोंके अनुसार पहलेसे ही आचरण करने लगे थे ; देशकी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओंपर पूरा नियंत्रण रखनेवाली काँग्रेस पार्टीके अंदर विद्यमान इन तत्वोंका संघर्ष फूटके द्वारा प्रतिबिम्बित हो उठा। मोटे रूपमें प्रगतिशील दलने अलग होकर अपना नया दल बना लिया था। असंतुष्ट लोगोंने प्रतिक्रियावादी संस्थाओंमें भाग लेना शुरू कर दिया । विचार और नीतिका संघर्ष; उन्मूलक नेहरू और परिवर्तन विरोधी पटेलके दृष्टिकोणोंका अतर अधिक स्पष्ट था ।

पूँजीजीवियोंके अन्दर शक्ति प्राप्त करनेके संघषाका यह आरंभ ही था, ऐसे संघर्षका जो स्वतंत्रताके उपरांत वाले वर्षोंमें देशको वाईं ओर झुका देगा, समाज-वादी देशोंसे मित्रता और सहयोग स्थापित करेगा तथा भारतके लाखों व्यक्तियोंके लिए नये क्षेत्र खोल देगा ।

दो प्रवृत्तियाँ

जब कभी आपको दुविधा हो....उस सबसे गरीब और सबसे कमजोर अदमीका चेहरा याद करो, जिसे आपने देखा हो और अपने मनमें पूछो कि जो कदम आप उठाना चाहते हैं, वह किसी प्रकार उसके लिए उपयोगी होगा और क्या वह उससे कुछ लाभ उठा सकेगा !

—मो. क. गांधी

२६ जनवरी १९५०। १९३० से अनेकों बार वर्षके प्रथम मासकी इस तारीखको भारतके देशभक्त विदेशी शासनसे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके कार्यमें अपने आपको नये सिरेसे लगानेकी शपथ लेनेके लिए इकट्ठे होते रहे हैं। वर्षों पूर्व यही दिन था, जब अंग्रेजोंके प्रति आशा त्यागकर काँग्रेसने औपनिवेशिक स्वशासनके स्थानपर पूर्ण स्वराज्य अपना उद्देश्य घोषित किया था। इसी कारण जब भारत गणराज्य घोषित हुआ, तो उस घोषणाके लिये २६ जनवरीका दिन चुना गया।

पर इस घटनाके महत्वको बहुत कम लोगोंने समझा। अनेकों व्यक्तियोंके लिये इस गणतंत्र दिनका उत्सव केवल १५ अगस्त १९४७ को घटनेवाली घटनाकी औपचारिक स्वीकृति थी। सत्यसे परे इससे बड़ी और कोई बात नहीं हो सकती थी। २६ जनवरी १९५० से भारतने अपनी यात्रा स्वतंत्र सार्वभौम राज्यके रूपमें आरंभ कर दी। सत्ताहस्तांतरके उपरांतवाले अनिश्चयके वर्ष समाप्त हो चुके थे। एक नये युगका प्रारंभ हुआ था।

पर संत्रस्त संसारने ही इस नये गणराज्यका जन्म देखा। २७ जनवरीको संयुक्त राज्यने प्रमुख पश्चिमी शक्तियोंके साथ उत्तरी अटलांटिके क्षेत्रको हथियारोंसे लस करनेके समझौतेपर हस्ताक्षर किये और १ फरवरीको एक वर्षके भीतर उद्जन बम बनानेके अपने विचारको व्यक्त किया। जिसके एक बममें अनेक अणु बमोंके बराबर विध्वंसक शक्ति होगी। १९५० के प्रथम चतुर्थांशने शीतयुद्धके तनाव और दुनियाके दलोंमें अधिक विभक्त होनेकी प्रवृत्तियोंके विस्तारको देखा।

दो प्रवृत्तियाँ

शीतयुद्धकी नीति नई नहीं थी। यूनान और तुर्कीको फौजी सहायता देनेवाला ट्रूमेनका सिद्धान्त तथा आगे चलकर इसी सिद्धान्तके मार्शल-नीतिके रूपमें विकासने (वह भी द्वितीय विश्वयुद्धकी समाप्तिके कुछ ही वर्षोंके अंदर) अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितिकी भीषणताको रेखांकित कर रखा था। अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप दोनों स्थानोंका जनमत इस नीतिके आचरणको न रोक सका और इसीसे अव्यवस्था तथा आध्यात्मिक शक्तिहीनताका अच्छा परिचय मिल जाता है।

यह सच है कि वामपक्षी और शांतिवादी, असंगठित स्वतंत्र तत्त्वोंके साथ मिलकर दूसरे युद्धकी दिशामें विश्वके बहावको रोकनेका प्रयत्न कर रहे थे। पर उनके प्रयत्न इन दमनकारी तैयारियोंको निष्फल करनेके लिए बहुत सीमित तथा कम थे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि शीतयुद्धकी रणनीतिमें ही यह असर था कि वह स्वस्थ दृष्टिकोणको दूषित कर सके।

उदाहरणके लिये स्पष्ट उत्तेजनाके परिणामस्वरूप समाजवादी दुनियाके देशोंने भी अपनी सीमाएँ सुरक्षित करनेके लिये संकटकालीन कदम उठाने शुरू कर दिये। निर्धारित साम्यवादी मार्ग छोड़ना एक कमजोरी तथा दगाबाजीका चिन्ह माना गया। सोवियत संघद्वारा टीटो प्रश्नपर विचार तथा पूर्वी यूरोपमें प्रस्फुटित होनेवाले अनेक राजनैतिक मुकदमें यह इंगित कर रहे थे, कि शीतयुद्धसे मुक्त समझे जानेवाले देशोंमें भी क्या हो रहा है। यह सही है कि इन साम्यवादी अंतर्द्वंद्वोंमें और भी अनेक समस्याएँ उलझ रही थीं, ऐसी समस्याएँ जिन्हें अच्छी तरह समझना अभी बाकी था। पर इसका मुख्य कारण बढ़ता हुआ भय था।

और जिस प्रकार शीतयुद्धके कारण राष्ट्रोंके समूह एक दूसरेके विरुद्ध खड़े हो गये थे। उसी प्रकार राष्ट्रोंके अंदर भी तीव्र मतभेद बढ़ गये थे। फासिस्ट शत्रुसे संयुक्त मोर्चा लेनेवाली एकताकी भावना मर चुकी थी। और उसका स्थान अनेक समस्याओंको लेकर होनेवाले अनेक दोषारोपणोंने ले लिया था, जिसके कारण इस प्रमुख महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओरसे ध्यान हट गया कि बीसवीं शताब्दीमें बिना शांतिके प्रगति संभव नहीं है और उसे पानेके लिए सह-अस्तित्वके सभ्य उपाय ढूँढ़ने चाहिये।

आज हम परस्पर इतने अधिक संबन्धित और एक दूसरेपर आश्रित हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि एक जगह घटनेवाली घटनाका दूसरी जगह असर पड़ना ज़रूरी नहीं है। शीतयुद्धको अंतमें एशियामें प्रविष्ट होना ही था। चीनकी घटनाएँ और एक विस्तृत क्षेत्रमें साम्यवादका प्रसार एशियामें शीतयुद्ध–नीतिके प्रारंभ-बिंदु नहीं थे, जैसा कि कुछ लोगोंका विचार है। क्या कम्युनिस्ट गणराज्यकी स्थापनासे पहले जापानके शस्त्रीकरणका निर्णय नहीं हो चुका था। क्या संयुक्त राज्य अमेरिका प्रशांत महासागरमें स्थित सैंकड़ों द्वीपोंको 'नये ढंगके विमान-वाहकोमें' परिवर्तित करनेके लिये अपने अधिकारमें नहीं ले चुका था? क्या अंग्रेज और फ्रान्सीसी पूर्वी और पश्चिमी एशियामें स्थित अपने उपनिवेशों और आश्रित राज्योंमें अपना अधिकार कायम रखनेके लिए बुरी तरह नहीं लड़ रहे थे? और क्या विदेशी शासनभार उतार फेंकनेवाली भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मा और हिंदेशिया जैसी एशियायी सरकारोंको सहायता नामधारी साधनके द्वारा नष्ट करनेका यत्न नहीं किया गया था? सफल होनेके लिये शीतयुद्धकी रणनीतिका समस्त विश्वकी दृष्टिसे निर्धारण आवश्यक था। और संयुक्त राज्य अमेरिकाने इस चीजको अच्छी तरह देख लिया था।

हस्तक्षेप करनेवाली विदेशी फौजोंने नवीन स्थापित सोवियत राज्यपर आक्रमण किया था। उसी प्रकार २७ वर्षके अंतर्द्वंद्वके पश्चात् स्थापित कम्युनिस्ट चीन भी दबाव और बदनामीका शिकार बनाया गया। उसके समुद्री तटकी उन राष्ट्रोंकी नौसेनाओं द्वारा घेराबंदी कर दी गई, जिनके साथ उसकी कोई लड़ाई न थी। चांग काई शेक पीछे हटकर अपने द्वीपमें बैठे हुए संयुक्तराज्य अमेरिकाद्वारा निर्धारित विस्फोटक खेल खेलने लगे। अब होनेवाली सन्धि हस्तक्षेप करनेकी प्रारंभिक तैयारी थी। इसी बीच साम्राज्यवादने चीनके दक्षिण वीतनाममें एक आक्रमण स्थान बनानेके लिये षड्यंत्र रचा। जापान भी शस्त्रागारका कार्य सम्पन्न करनेके लिये उत्साहित किया गया।

अमेरिकन युद्धनीतिज्ञोंने अभी यह तय नहीं किया था कि इस शीतयुद्धको यूरोपमें गरम युद्धके रूपमें परिवर्तित किया जाय या एशियाम। निर्णय तो एक सीधी क्रूर गणना-पर आश्रित था। अर्थात् युद्ध वहाँ जारी करना चाहिये; जहाँ वह धन, जन और आयुधों,

विशेष रूपसे जनमें सबसे कम कीमतमें सम्पन्न किया जा सके। और इस कारण १४ फरवरी १९५० को जब कि एक ओर सोवियत संघ कम्युनिस्ट चीनके साथ ३० वर्षीय मित्रता और सहयोगकी संधिपर हस्ताक्षर कर रहा था, वहाँ बेंकाकमें १७ अमेरिकन कूटनीतिज्ञ तथा एशियायी दलोंके प्रधान दक्षिणपूर्वी एशियाकी आर्थिक सहायताके प्रश्नपर बातचीत करनेके लिये एकत्रित हुए। इस निर्दोष शब्द-जालमें उनको एक परिचित जाल दिखाई पड़ रहा था, उन्होंने ऐसी सहायताका प्रभाव योरोपमें देखा था।

१५ मई तक ब्रिटिश राष्ट्रमंडलके ७ देशोंके प्रतिनिधि सिडनीमें दक्षिणी और दक्षिणी पूर्वी एशियायी देशोंको साम्यवादके विरुद्ध उभाड़नेकी सफल योजनाकी प्रारंभिक कार्यवाही निश्चित करनेके लिए एकत्रित होने लगे थे। शीतयुद्ध बदलेकी भावनाके साथ अपने परिचित रूपमें एशियामें प्रवेश पा गया था।

भारतीय गणराज्यकी सरकार शीतयुद्धकी इन चालोंके प्रति पूर्णरूपेण जागरूक थी, पर इस समय वह अधिक हैरान नहीं थी। प्रमुखरूपसे वह ब्रिटिश राष्ट्रमंडलकी सदस्यताके कारण विश्वस्त थी। उसे आशा थी कि इस व्यवस्थाके द्वारा वह इस भयंकर परिस्थितिसे साफ निकल सकेगी। आखिरकार ब्रिटेनने चांग काई शेकके साथियोंसे संबन्ध विच्छेद करके क्या चीनके गणराज्यसे नियमित स्वीकृति प्रदान नहीं की थी, एक ऐसा कदम जिसके बारेमें दिल्ली वालोंने सोचा कि यह उनके हठका परिणाम था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन भारतका समर्थन इस आशासे कर रहा था कि वह साम्यवादी दुनियासे युद्धमें फँसनेकी अमेरिकाकी जल्दबाजीकी नीतियोंमें एक अवरोध उपस्थित कर सके। ब्रिटेनकी मजदूर पार्टी भी थोड़े बहुमतसे चुनाव जीत चुकी थी।

भारत सरकार सोच रही थी कि एशियामें उसकी स्वतंत्र स्थितिका उपयोग साम्राज्यवादसे लाभदायक शर्तें स्वीकार करवा लेनेमें हो सकेगा। अप्रैल १९५० में नेहरूजीकी घोषणाका यही अर्थ था, जब उन्होंने कहा कि "क्या मैं आपका ध्यान इस ओर आकर्षित कर सकता हूँ कि जिस प्रकारकी नीति हम अपना रहे हैं, वह तटस्थ प्रतिरक्षात्मक या नकारात्मक नीति नहीं है।" यह साम्राज्यवादियोंके

लिए इशारा था कि उन्होंने यदि अपनी नीतिमें परिवर्तन नहीं किया, तो प्रतिक्रियाके लिए अन्य मार्ग मौजूद हैं।

इस प्रकारका दृष्टिकोण धीरे-धीरे बनने लगा था। काँग्रेसके नेता अपने आपसे कहने लगे थे कि भयग्रस्त होनेकी कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि तटस्थताके लचीले स्पष्टीकरण द्वारा साम्राज्यवादको भी घरेलू आर्थिक उन्नतिमें सहायता देनेके लिए बाधित किया जा सकता था। यह एक प्रकारकी सीधी-सादी बात थी और भारतको इसके संबन्धमें किसी प्रकारकी हिचकिचाहट क्यों होनी चाहिए।

मस्तिष्कमें इस प्रकारके विचारोंके साथ १६ जनवरीको काँग्रेस कार्यकारिणी समितिने भारतके लिए एक विशाल आर्थिक योजना प्रस्तुत करनेको एक 'योजना आयोग' नियुक्त करनेकी सिफारिश की।

वास्तवम सत्ता-हस्तांतरण कालमें आर्थिक समस्यापर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त देशके विभाजनके परिणामस्वरूप पाकिस्तानसे आनेवाले लाखों निष्क्रमणार्थियोंके कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बहुत कुछ अस्त-व्यस्त हो गई थी। काश्मीर युद्ध, विशेषरूपसे उसके व्यय (लगभग चार लाख रुपये प्रतिदिन) से समस्या और भी बिगड़ गई थी।

सरकारी अनुमानपर आधारित विभाजनके नुकसानोंके कुछ आंकड़े शरणार्थियोंकी आर्थिक समस्या हमें दिखला सकते हैं। केवल पश्चिम पाकिस्तानम शरणार्थियों द्वारा भूमिके अतिरिक्त छोड़ी गई अन्य अचल संपत्ति लगभग ५०० करोड़ रुपयोंकी थी अर्थात् मुसलमान शरणार्थियों द्वारा भारतमें इस प्रकार छोड़ी गई संपत्तिकी पँचगुनी। मुसलमान किसानों और जमींदारों द्वारा भारतमें ५० लाख एकड़ घटिया जमीनके बदले ६० लाख या एक करोड़ एकड़ सिंचाईवाली ज़मीन पाकिस्तानके हाथमें पहुँच गई थी। अन्य दावोंकी बराबर जाँच नहीं हुई है, पर पूरा हिसाब लगानेके उपरांत चल और अचल संपत्तिका अंतर भारत द्वारा प्राप्त करनेके लिए बहुत अधिक निकलेगा। इन आंकड़ोंसे यह बात समझमें आ जाती है कि उस समय पहली बार सामने आनेवाली शरणार्थियोंकी समस्या कितनी अधिक उलझी हुई थी। उसको सुलझानेकी क्षमता भी सीमित थी।

दो प्रवृत्तियाँ

पाकिस्तानके अधिकारमें पंजाबका बढ़िया गेहूँ और कपास पैदा करनेवाला भाग तथा बंगालका जूट-क्षेत्र था। इन दो कटु सत्योंने भारतमें जहाँ एक ओर अन्नसंकट उपस्थित कर दिया, वहाँ दूसरी ओर रुई और जूट उद्योगोंके लिए भी दूसरा संकट उत्पन्न कर दिया। क्योंकि कच्चे मालके मुख्य स्रोतोंसे उनका सम्बन्ध विच्छेद हो गया था। अचानक अधिक ज़मीन पर जूटकी खेती करनेका अर्थ अन्नकी कमीको बढ़ाना था। "एक समयका भोजन छोड़ो" के नारे और जनसंख्यापर नियंत्रण; के अलावा इस समस्याका कुछ विश्वसनीय इलाज न था।

यातायात भी गंभीर रूपसे अस्तव्यस्त हो गया था। पहले कराँची और बम्बई दोनों बन्दरगाह उत्तरी भारतका यातायात सँभालते थे। अब केवल बम्बई रह गया था और बन्दरगाहका अवरोध आसानीसे दूर नहीं किया जा सकता था, उन दिनोंमें भी नहीं, जब किसी प्रकारका आर्थिक और व्यापारिक विस्तार नहीं हुआ था। आशा यही थी कि ज्यों–ज्यों विकासकी गति बढ़ेगी, यातायातके अधिक अवरोध उत्पन्न होंगे। इनमेंसे कुछ तो विभाजनके आर्थिक परिणाम थे और सरकारने यह समझ लिया कि इनका शीघ्रतापूर्वक कोई हल संभव नहीं है। इसमें समय लगेगा और भारतकी प्रगतिके मार्गसे इन रुकावटोंको हटानेके लिए योजना बनानी पड़ेगी।

परंतु शरणार्थी समस्या और काश्मीरके मामलेपर शीघ्र ध्यान देना आवश्यक था। यह समस्याएँ विस्फोटक थीं और साम्प्रदायिक संस्थाओं तथा सामंतवादी अवशेषों द्वारा आसानीसे इनका लाभ उठाया जा सकता था। यह प्रश्न एक दूसरेसे जुड़े हुए थे। क्योंकि उनकी उत्पत्ति भारत और पाकिस्तानके तनावके कारण हुई थी।

इस बातकी चेतावनीके बावजूद भी कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस मध्यस्थताका लाभ स्वयं उठाना पसंद करेंगी, काश्मीर राष्ट्रसंघके हाथों सौंपा जा चुका था। जनरल ए. जी. एस्. मेकनाटन द्वारा मध्यस्थताके प्रथम प्रयत्न विफल होनेकी सूचना ७ फरवरी १६५० को दी जा चुकी थी। अब यह दिखाई पड़ता था कि शायद यह प्रक्रिया जारी रहेगी, क्योंकि ऐसी विदेशी शक्तियाँ जिनका इसमें स्वार्थ था, इस उलझनको बनाये रखना चाहेंगी, जिससे भारत और पाकिस्तान परस्पर विभाजित बने रहें।

कॉंग्रेस पार्टीको भी यही डर था और इसी कारण वह पाकिस्तानके साथ अपने सम्बन्धोंको परस्पर मिलकर सुधारनेकी इच्छुक थी। उसने यह भी अनुभव कर लिया था कि पश्चिमी पाकिस्तानसे सभी हिन्दू निकाल डाले गये हैं और ऐसी ही कुछ परिस्थिति पूर्वी पाकिस्तानमें तैयार की जा रही है। पाकिस्तानके प्रधानमंत्री लियाकतअली खानको दोनों देशोंमें सम्बन्धित मामलोंपर बातचीत करनेके लिये २ अप्रैलको दिल्लीमें आमंत्रित किया गया। बहुत कम लोगोंको किसी प्रकारकी आशा थी, क्योंकि काश्मीरके प्रश्नका उपयोग पाकिस्तानमें राजनैतिक रूपसे डांवाडोल सरकारका पक्ष दृढ़ करनेके लिये किया जा रहा था, जिस सरकारका जनताकी स्थिति सुधारनेका कोई इरादा नहीं था।

फिर भी भारत और पाकिस्तानके बीच एक समझौतेपर हस्ताक्षर हो गये। इससे पूर्वी पाकिस्तानसे आनेवाले निष्क्रमणार्थियोंका दवाव कम हो गया और आपसके संबंधोंमें एक हद तक सामान्य स्थिति आई। अप्रैलके अंतमें नेहरूकी एक जवाबी यात्रा करॉंचीके लिये हुई। बातचीतके इन दो सिलसिलोंके बीचके समयमें राष्ट्रसंघने काश्मीरके लिये ओवन डिक्सन नामक एक अन्य मध्यस्थ नियुक्त किया था।

अब कॉंग्रेसके नेताओंने अपना ध्यान भारत वासियोंकी अन्न-वस्त्र और मकानकी समस्याओंकी ओर आकृष्ट किया और हमेशाकी तरह आर्थिक मामलोंमें अपना ध्यान लगाते ही उसको हल करनेके मार्गमें मतभेद दिखलाई देने लगा। उन्मूलक तथा परिवर्तन विरोधी वही सैद्धान्तिक मतभेद, जिसमें कॉंग्रेस पार्टी इस शताब्दीके प्रारम्भसे तथा उसकी दूसरी, तीसरी और चौथी दशाब्दियोंमें जकड़ी रही थी।

यह अन्तर पहले महात्मा गांधी द्वारा दूर कर दिये जाते थे; जिनकी भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेससे अनेक दलोंका नाजुक शक्ति संतुलन रखनेके लिये बड़ी विचित्र, पर आवश्यक स्थिति थी। लेकिन वे भी उन विचारधाराओंके व्यक्तीकरणको नहीं रोक पाते थे।

सभी राजनैतिक विचारधाराओंका प्रतिनिधित्व करनेवाली भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेसके विकासका अध्ययन करने पर यह दिखलाई पड़ेगा कि दो स्पष्ट दृष्टिकोण

पनप रहे थे। एक ओर परिवर्तन विरोधी, दक्षिण पंथियोंका कहना था कि साम्राज्यवादसे संघर्ष लेते समय एकता कायम रखनेके लिये आर्थिक समस्याओंको पृष्ठभूमिमें छोड़ना चाहिये । दूसरी ओर उन्मूलक वामपथी अधिक जोरदार वक्ता थे, जिनका कहना था कि इस संघर्षका आधार आर्थिक होना चाहिये। ज्यों ज्या आंदोलन तीव्रतर होता गया, उसी अनुपातमें यह दृष्टिकोण शक्तिशाली होता गया। और यद्यपि इन दोनोंमें एक प्रकारकी एकता रखी गई थी, पर १९४२ में दूसरी बातोंके साथ युद्ध-विषयक दृष्टिकोणके कारण साम्यवादी विचारधाराका भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेससे अलग होना दरअसल विभिन्न पक्षोंके इस संघर्षको ही बतलाना था। इस संघर्षको मार्क्स-विचारक अच्छी तरह न समझ सके और न उसका विवेचन ही कर सके।

जो लोग हमेशा यही चिल्लानेके आदी हैं कि वर्तमान कॉंग्रेस पार्टीने इसकी समाजवादी औषधि बतलाई है; उन्हें चाहिये कि पन्ने पलटकर कॉंग्रेसके उन दिनोंके पुराने घोषणापत्र पढ़ें, जब शक्ति प्राप्त करनेके लिये आंदोलन जारी था। यह सच है कि यह केवल उन आदमियोंकी घोषणा थी, जिन्होंने अब तक शासनकी बागडोर नहीं संभाली थी, पर वह एक संपूर्ण आंदोलनकी जागरूकताका स्तर बतलाते हैं। गांधीजी और पटेल जैसे परिवर्तन-विरोधी नेताओंको भी वामपंथियोंके अनेक सिद्धांत आंदोलनकी जड़से आनवाल भारी दबावके कारण मानने पड़े।

स्पष्टतया कॉंग्रेसके अंदर उस समाजवादी विचारधाराके प्रतिपादक जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचंद्र बोस थे। और जो कुछ वे कह रहे थे, उसे उस समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराका एक अंश समझना चाहिये, जो समस्त देशमें फैल रही थी।

१९०७ में कॉंग्रेसके सूरत अधिवेशनमें ही कॉंग्रेसके नरम और गरम दलोंमें झगड़ा हो गया था। उन दिनों गरम दलका नेतृत्व तिलक, लाजपत राय और अरविंद घोष जैसे दिग्गज कर रहे थे। नरम दल द्वारा, जिसका जोर था, अपने अधिक बोलनेवाले साथियोंके ऊपर छींटे उछालनेके लिये हर प्रकारका ढंग

काममें लाया गया। पंडालमें पूरे अधिवेशनके दौरानमें अव्यवस्था बनी रही। वादविवादके स्थानपर मराठी चप्पलों तकको काममें लाया गया।

यह खींचातानी चलती रही। कभी कभी तो यह दबाव मालूम भी नहीं पड़ता था। उसके उपरांत गांधी-इरविन समझौतेमें स्वीकृत शर्तोंके थोड़े ही दिन बाद मार्च १९३१ में कॉंग्रेसके करॉंची अधिवेशनमें दृष्टिकोणका अंतर स्पष्ट रूपमें दीखने लगा। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोसके नेतृत्वमें उन्मूलनवादी वामपंथी इस विचारधाराको माननेके लिये तैयार नहीं थे कि इस समझौतेकी जरूरत सत्याग्रह आन्दोलनकी विफलताके कारण पड़ी थी। इसके अतिरिक्त गढ़वाली सैनिकों तथा भगतसिंहकी बात भुला दी गई थी। नेहरूजी शारीरिक कष्ट तथा मानसिक संघर्ष सहन कर रहे थे। बोस वामपंथी घोषणापत्र पढ़ने लगे। क० मा० मुंशी तक ने लिख डाला कि, "करॉंचीवाला गांधीजीका भाषण यदि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिया जाता तो उत्तेजना उत्पन्न कर देता।"

यह उत्तेजना इतनी अधिक थी कि गांधीजीने उन्मूलनवादी विचारधारासे समझौता करना ही अधिक उचित समझा। प्रमुख रूपसे नेहरूकी प्रेरणासे मौलिक अधिकारों तथा राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रमके बारेमें एक प्रस्ताव पास किया गया। समस्त कॉंग्रेसको अधिक उन्मूलनवादी बनानेकी ओर यह एक महत्वपूर्ण कदम था, क्योंकि जो सिद्धान्त स्वीकार किये गये, उसके अन्दर प्रमुख उद्योगों और यातायातका राष्ट्रीयकरण, श्रम-अधिकार तथा कृषिविषयक मौलिक सुधार सम्मिलित थे। उसके बारेमें क० मा० मुंशीने कहा है कि "इससे पूँजीजीवी घबरा उठे, पर कट्टर मार्क्सवादियोंको संतुष्ट नहीं किया जा सका।" लेकिन वे भी यह स्वीकार करते हैं कि यह प्रस्ताव इस कारण स्वीकृत हुआ, क्योंकि "वह उदंड पंडित जवाहरलाल नेहरूका लाड़ला बेटा था।"

पाँच साल बाद लखनऊ अधिवेशनमें यह दृष्टिकोण अधिक जोर देकर प्रतिपादित किया गया। १९३६ से १९४० तक राष्ट्रीय योजना समितिके कार्यका, यह सिद्धान्त आधार बना, जिसका सभापतित्व नेहरूने किया था और उनके वर्तमान निर्णयोंमें निश्चित रूपसे इस पूर्वकालके कीटाणु हैं। अच्छी तरह कॉंग्रेसी

विचारधाराके इन वामपंथी उन्मूलक तत्वोंको समझना इस कारण जरूरी है क्योंकि चालीसवें वर्षोंमें साम्यवादी और समाजवादी दलोंके अलग होनेके उपरांत भी इनका बना रहना अधिक महत्त्वपूर्ण है, विशेष रूपसे उस समय जब कि हम कॅांग्रेस पार्टीके वर्तमान रूपको समझना चाहते हैं।

१९५० तक जवाहरलाल नेहरू तथा वल्लभभाई पटेल नामी दो प्रभावशाली व्यक्ति कॅांग्रेस पर छाये हुए थे। एक पार्टीके दो अन्यतम अभिवक्ताओं द्वारा प्रतिपादित परस्पर विरोधी विचारधाराओंका अतर दूर करनेके लिये गांधीजी अब मौजूद नहीं थे, जिसके प्रति समस्त पूजीजीवियोंका एकनिष्ठ विश्वास था और जो उसकी अत्यंत शक्तिशाली इंद्रियके समान काम करती थी।

यह दोनों व्यक्ति विचार, विश्वास तथा साधनोंकी दृष्टिसे पूर्णरूपेण असमान थे। ये दोनों व्यक्ति राष्ट्रीय आंदोलनके संघर्षोंके दरम्यान ही राजनैतिक जीवनमें ऊँचे उठे थे, जो गांधीवाद तथा वर्तमान राजनैतिक विचार तथा व्यवहारसे मिलकर बनी एक आश्चर्यजनक उपज थे। और निकट पूर्वमें स्वतंत्र होनेवाले भारतमें एक दूसरेका अनादर नहीं कर सकते थे, कि वह पूँजीजीवियोंमें वर्तमान शक्तिका संतुलन प्रतिबिंबित कर रहे थे, जिस वर्गके पास आजकल राजशक्ति थी।

सुंदर सक्रिय नेहरू जनताकी प्रसिद्ध वंदनीय मूर्ति बने हुए थे। गम्भीर सोच समझकर कदम रखनेवाले पटेलका प्रेमसे अधिक भय माना जाता था। नेहरू विदेशमें शिक्षित, उदार और उन्मूलनवादी थे। पटेल पक्के कृषक, निरंकुश और शांति कुशल थे। एक मानव और घटनाओंके इतिहासका विद्यार्थी हमेशा अपने अभिनयके प्रति और उस अभिनयकी भविष्यमें जन्म लेनेवाले ऐतिहासिकों द्वार मूल्य निर्धारणके प्रति हमेशा जागरूक था। दूसरोंके मत और सिद्धान्तसे घृणा थी और प्रमुख रूपसे शक्ति और उसके व्यवहारिक संगठनसे मतलब था। नेहरू अपना प्रभाव लोगोंमें समथनसे प्राप्त करते थे। पटेल अपनी पकड़ राजनैतिक रूपमें बनाये रखना चाहते थे। राजसी व्यक्तिका मार्क्सवादमें दखल था और लेनिन उसका आदर्श था। कृषक ऐसे विचारोंका कट्टर शत्रु था। दोनों भारतको शक्तिशाली तथा सुदृढ़ बनानेमें कृत संकल्प थे। यह उन दो व्यक्तित्वोंका मत वैषम्य

था, जो एक दूसरेके प्रतिकूल आर्थिक सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे थे, जिसने घरेलू मोर्चेपर कॉंग्रेसकी कार्यवाहियोंको हास्यास्पद बना दिया।

वल्लभभाई पटेल हमेशा साधन संपन्न वर्गके प्रमुख भागके हितोंके समर्थक थे। उनकी यह धारणा थी कि केवल यही वर्ग भारतपर शासन कर सकता है। उनके लिये प्रगति और आर्थिक समानताके नारे केवल निर्वाचनके हेतु ही काममें लाई जानेवाली चालें थीं। कृषक और कामगार केवल धन पैदा करनेके लिये बनाये गये थे और यह कार्य कुशलतासे वह तभी संपादित कर सकते थे, जब उनकी देख-भाल राज्यके उदार धनी ट्रस्टियों द्वारा की जाय। उनका रामराज्य यही था।

पटेलकी दृढ़ धारणा थी कि यदि कोई वर्ग इन बड़े पूँजीजीवियोंके अस्तित्व पर हमला करनेकी हिम्मत करता है, तो शीघ्रता तथा कठोरतासे उसका दमन करना चाहिये और यही सिद्धान्त उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें स्थानांतरित किया, क्योंकि उन्हें अच्छी तरह विश्वास था कि कोई साम्राज्यवादी या बड़ी शक्ति भारतकी उन्नतिमें सहायता देनेसे मना नहीं करेगी। वह शक्तिका आदर करते थे और उनके लिये संयुक्त राज्य अमेरिका शक्तिशाली था।

ऐसे देशमें जो नंगा और भूखा दोनों था तथा जो केवल किसीके नवीन और प्रेरणात्मक संदेशकी राह देख रहा था (ऐसे संदेशकी जिसमें असीमित शक्ति हो, जिससे भारतीय पूँजीवादी एकाधिकारका ढोंग रचनेवालोंकी योजनायें विफल हो सकें), नेहरू कितना प्रभाव डाल सकते हैं, इस ओरसे पटेल अंधे नहीं थे। चूँकि वह नेहरूपर नियंत्रण नहीं रख सकते थे, इस कारण उन्होंने अपना ध्यान अपने पासवाले एक मात्र अस्त्र—कॉंग्रेस पार्टीकी मशीन—की ओर दिया।

उन्होंने कॉंग्रेसमें ऐसे नेताओंको भरना शुरू कर दिया, जो उन्हींकी तरह सोचते थे तथा संकटकालीन परिस्थितिमें जो उन्मूलनवादी नेहरूसे रुक जाओ कह सकें। इस चालमें उनकी सहायता स्वयं नेहरूने ही की। नेहरूने कॉंग्रेस संस्थापर अपना नियंत्रण दृढ़ करनेके लिये कोई कदम केवल इस कारण नहीं उठाये कि उन्हें डर था कि कहीं वह संस्था स्वयं उनका ही किसी दिन नियंत्रण न करने लगे। वे अपने एकांतिक संघर्ष और एकांतिक सफलताको पसंद करते थे। यह अपने

आदर्शोंके प्रति दृढ़ विश्वास रखनेवाले व्यक्तिकी रोमांटिक पहुँच थी, लेकिन ऐसी पहुँच जिसके अंदर राष्ट्रके लिये भारी संकट विद्यमान था।

आरंभमें कॉंग्रेसमें विद्यमान इन दोनों प्रवृत्तियोंके प्रतिवादकोंका सामंजस्य नष्ट करनेके लिये बहुत कम कारण थे। दोनों इस बातमें सहमत थे कि हस्तांतरित सत्ताको दृढ़ किया जाय। उनकी योजनाओंमें सामंतवादको कोई स्थान नहीं था। ब्रिटेनसे सम्बंध सौहार्द्रपूर्ण होनेके अतिरिक्त और अन्य किसी प्रकारके नहीं हो सकते थे। भारतको सोचने और साँस लेनेके लिये अवकाश चाहिये था और एक ढीली तटस्थता उसका सही इलाज था, पर भारतकी आर्थिक प्रगतिके बारेमें इस प्रकारका अस्पष्ट दृष्टिकोण नहीं चल सकता था।

पूँजीजीवियोंके प्रधान दलने जिसका प्रतिनिधित्व पटेल कर रहे थे, यह स्वीकार कर लिया कि प्राकृतिक साधनोंका तत्कालीन विकास जरूरी है, जहाँ स्थानीय व्यापारियोंको दिक्कत मालूम पड़ती हो, उन क्षेत्रोंमें विदेशी पूजीका प्रभाव खतम करना चाहिये, जमींदारी निसंदेह पुरानी पड़ गई है तथा किसानों और मजदूरोंके जीवनकी अवस्थाओंमें कुछ सुधार करना ही चाहिये। पर भारतके बड़े व्यापारियोंके हितोंसे ऊपर राज्यको समझनेके हर प्रकारके प्रयत्नका दृढ़तासे विरोध करना चाहिये।

नेहरूको यह दृष्टिकोण मानना पड़ा। ऐसा करना उनके लिये कुछ कठिन भी नहीं था, क्योंकि १९५० के मध्य तक जो परिस्थिति बनी हुई थी, वह चाहती थी कि इस मामलेको धीरे-धीरे सुलझाया जाय। इस कारण नेहरूने जो योजनायें और सिद्धान्त तीसवें वर्षोंमें प्रचारित किये थे, उनका शीघ्र ही मजाक इस आधारपर उड़ाया जाने लगा कि प्रश्नको सिद्धांतोंके दायरेमें ही सुलझानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अधिकतर नेहरू ही ऐसी आलोचनाका नेतृत्व करते थे।

विलंबित आर्थिक माँगोंके समर्थनमें किसी प्रकारके आंदोलन या असंबद्ध प्रयत्नोंको क्रूरतापूर्वक कुचलनेके साथ-साथ कॉंग्रेस नीतिके इस पहलूका कम्यूनिस्ट तथा अन्य वामपंथियोंने यह अर्थ निकाला कि यह स्वतंत्रता आंदोलनके सिद्धांतोंके साथ स्पष्ट विश्वासघात है। जिस समय यह बातें सामने आईं, इनका कुछ अन्य अर्थ निकलना सम्भव न था। ज़मीनके भूखे किसानोंकी भूमिका टुकड़ा प्राप्त करनेकी

माँगको ठुकरा दिया जाता था। इसके अतिरिक्त जमींदार पूँजीपति तथा कृषक अपनी भूमि परसे जोतनेवालोंको बेदखल कर सकते थे। मज़दूरोंके संघर्षको अधिकतर पुलिसके अत्याचारोंसे कुचल दिया जाता था। सफेद पोश कर्मचारियोंकी भी अवस्था कुछ अच्छी नहीं थी। त्रिदलीय समझौतों, लाभ बाँटनेकी योजनाओं तथा औद्योगिक झगड़ोंको शांतिपूर्ण समाधानोंके द्वारा कामगारोंको उनके नैराशपूर्ण भाग्यकी ओरसे विमुख नहीं किया जा सकता था।

यह भी ध्यान रखना चाहिये, यह समस्त विस्फोट उस समय हो रहे थे, जब अन्नकी स्थिति बिगड़ गई थी, जब वस्तुओंके भाव बढ़ रहे थे तथा जब काँग्रेस इस बिगड़ती हुई परिस्थितिको संभालनेके लिये बहुत कम प्रयत्न कर रही थी। जनताके इस दिशाके संघर्षका नेतृत्व करना वामपंथियोंका प्रमुख कर्तव्य था, पर गृह तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रकी गतिवान परिस्थितियोंको अच्छी तरह समझे बिना, ऐसा करना बहुत नाजुक था। ऐसे गतिशील तत्त्व ही भविष्यका निर्माण करनेवाले थे।

शीत युद्ध का तर्क

यह समस्त नश्वर जगत् अन्योन्याश्रित मानव शरीर है।

—महाभारत

उत्पादन घट रहा था। मूल्य बढ़ रहे थे। पौंड पावनेकी अनुकूल स्थितिके बावजूद भी पूँजीमें कमी थी। विकास योजनाओंमें भारी कमी कर दी गई थी। देशपर करोंका भार बढ़ रहा था। इन परिस्थितियोंने कॅाग्रेस पार्टीके नेताओंको तीसरे वर्षोंके वायदोंकी ओरसे विमुख कर दिया। लंदन और विशेष रूपसे वाशिंगटनकी सहायताके बिना देशकी आंतरिक आर्थिक समस्याओंके सुधरनेका उन्हें कोई रास्ता दिखलाई नहीं पड़ता था। उन्होंने अपनी ओरसे ही यह धारणा बना ली कि शीतयुद्धके संदर्भमें यह सहायता आसानीसे मिल जायगी, जिससे बिना पूँजीजीवी समुदायके किसी प्रकारके बलिदानके आर्थिक समस्या हल हो सकेगी।

इस बातकी उन्हें इतनी अधिक आशा थी कि उन्होंने इस चेतावनीको भी अनसुनी कर दी कि साम्राज्यवादी उनसे इस प्रकारके अधिकार और विश्वास प्राप्त करना चाहेंगे, जिससे राष्ट्रीय सार्वभौमता समाप्त हो जाय और फल स्वरूप स्वयं पूँजीजीवियोंकी स्वतंत्रता भी सीमित रह जाय।

जब तक पाश्चात्य सम्बधोंके द्वारा लाभ होनेकी आशा थी, तब तक समाजवादी संसारसे व्यापार या सहायता प्राप्त करनेकी बात पर विचार करना भी व्यापारी वर्गके लिये स्वाभाविक रूपमें सम्भव न था। इसके अतिरिक्त द्वितीय महायुद्धमें बुरी तरह बिगड़ी हुई सोवियत संघकी अर्थव्यवस्था अभी तक इस स्थितिमें नहीं आई थी कि वह मशीनोंका निर्यात तथा तांत्रिक सहायता दे सके। अभी तो वह पोलैंड, ज़ेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, बलगेरिया और अलबानियँके विकास-कार्योंमें सहायता देनेकी स्थितिमें आ पाया था। चीनकी आश्यकताएँ भी अधिक एवं आवश्यक थीं।

भारत सरकारने जिसे विश्वास था कि उसकी तटस्थताकी नीतिका लंदन समर्थन करेगा, अमेरिकन सहायतामें आशा लगाई तथा प्रथम पंचवार्षिक योजनाके विवरण बनानेवाले सरकारी कर्मचारियों अर्थ शास्त्रियोंने ऐसे किसी भी कदमपर विचार करना स्वीकार नहीं किया, जिसमें पश्चिमी बेंकरों और धनिकोंको असंतोष हो।

लेकिन १९४९ और १९५० में शीतयुद्धके तर्कोंने भारत सरकारकी गणनापर अपने प्रभावको अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। वाशिंग्टनने यह निर्णय कर लिया था कि नये चीनको नष्ट करना ही चाहिये और इस कारण एशियायी सरकारों पर उनके क्षेत्र तथा मानव शक्ति प्रस्तुत करनेके लिये जोर डालना अवश्यक था, जिससे समाजवादी राक्षसको नष्ट करनेके लिये अभियान हो सके।

लेकिन भारतका सत्ताधारी वर्ग ऐसी किसी स्पष्ट और वलात लादी गई शर्तको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं था। प्रथम तो इस प्रकारका कदम उसके हितमें नहीं था। इसका केवल यही परिणाम निकलता कि आश्रित फौजें संगठित की जातीं जिसका भार अंतमें स्थानीय करदाताको ही उठाना पड़ता — किसी प्रकारके आर्थिक विकासमें भारी रुकावट थी। किसी भी दशामें, स्थानीय पूंजीपति पुनः विदेशी हितोंके पूरक वननेकी इच्छा नहीं रखते थे। दूसरी बात यह थी कि साम्राज्यविरोधी परंपराओंमें पले भारतवासी वाशिंगटनकी विभूतिवान पराधीनता स्वीकार करनेके लिये तैयार न थे। काँग्रेसका नेतृत्व कड़े पदार्थका वना हुआ था। वे निराश होनेवाले नहीं थे।

एक अधिक गहरी बात सोची गई, ऐसी चाल जो प्रमुख रूपसे वर्तमान अंतराष्ट्रीय परिस्थितिको अच्छी तरह समझ कर बनाई गई थी। दिल्लीको संयुक्त राज्य अमेरिका भावी युद्धके विजयी राष्ट्रके रूपमें दिखलाई दे रहा था और इस कारण उसे निरर्थक क्रोधित न करना सोचा गया। आखिर सोवियत संघके चारों ओर हवाई अड्डोंका जाल बिछा हुआ था और उसे परमाणु शक्तिसे नष्ट किया जा सकता था। यह सच है कि चीन शक्तिशाली होता जा रहा था, लेकिन यदि संयुक्तराज्य अमेरिका उसके अरक्षित लम्बे चौड़े समुद्र तटपर आक्रमण करनेकी सोच लेता तो वह यह प्रक्रिया कब तक जारी रख सकता था, इस कारण तटस्थताके अर्थमें थोड़ा परिवर्तन हुआ।

राष्ट्रसंघके भारतीय प्रवक्ता और विशष रूपसे श्रीमती पंडित, यह सँभालने लगीं कि भारत तटस्थ भले ही हो, लेकिन अंतिम विवेचनामें वह स्वतंत्रताके पक्षमें है और इस कारण पश्चिमके साथ रहेगा। इस सिद्धान्तके पक्षमें प्रमाण प्रस्तुत किया गया। यह बतलाया गया कि राष्ट्रसंघमें भारत अधिकतर आंग्ल–अमेरिकन शक्तियोंके साथ रहा है। अमेरिकन काँग्रेसके सामने कहे हुये श्री नेहरूके शब्दों " जहाँ स्वतत्रता पर संकट है या न्याय पर खतरा है या जहाँ दमन हो रहा है, न हम तटस्थ रह सकते हैं और न रहेंगे। " के इस मिथ्या अर्थ कि **'पश्चिमी संसारका भारत द्वारा सक्रिय समर्थन'** का कोई विरोध नहीं किया गया।

इस क्षेत्रमें श्रीमती पंडितको सफलता मिली, यह ऐसा मार्ग था जिसका अंग्रजोंने भी भारी समर्थन किया, क्यों कि अमेरिकन विस्तारकोंके एशियामें बलात प्रवेशके विरुद्ध उनकी स्थिति सुदृढ़ हो गई। लेकिन वाशिंग्टन जो समाजवादके गढ़को नष्ट करनेके लिये भारी तैयारी कर रहा था, इस विचारधाराका खंडन करनेके लिये तैयार नहीं था। दिल्ली अपनी ओरसे आगे बढ़नेके लिये झिझक रही थी।

इस परिस्थितिका निदान राष्ट्रसंडलके अदर रह कर ही करना सोचा गया। क्या मजदूर दल भारतका शुभेच्छु न था ? क्या लंदन–दिल्लीकी ही तरह वाशग्टनकी आतंकपूर्ण बातोंसे सम्बधित न था ? जो कुछ आवश्यक था, वह एटली करेंगे। भारतके खातेमें पड़ा हुआ पौंड पावना उसकी योजनाओंके लिये प्रस्तुत होगा। यह सब अव्यवस्थित मनोवांछित विचारधारा थी। केवल सरदार पटेल अपने विचारोंमें स्पष्ट थे। वे संयुक्तराज्य अमेरिकासे मामला तय करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न था और इसमें उन्हें प्रमुख भारतीय पूजीपतियोंका समर्थन प्राप्त था, जो अपने स्वप्नोंके अनुकूल त्वरित आर्थिक विकासों द्वारा तत्काल लाभ प्राप्त न कर पानेके कारण निराश हो रहे थे।

लेकिन नेहरू कोई मार्ग निकालनेके लिये दृढ़ संकल्प थे। द्वितीय चांग काई शेक बननेका विचार उन्हें अच्छा नहीं लगता था। साम्राज्यवादको नवीन प्रगतिशील एशियाकी भावनाओंका आदर करनेकी शिक्षा देनी चाहिये। 'एशिया' ...... जैसा कुछ है ...... में एकता होनी चाहिये तब वाशिंग्टन यह समझ जायगा कि वह केवल

भारतकी ओरसे नहीं बोलते वरन् एक विस्तृत युद्धोपयोगी महत्वपूर्ण क्षेत्रकी ओरसे बोल रहे हैं ।

जून १९५० में भारतके प्रधान मंत्रीने पुराने सम्बंधोंको दृढ़ करनेके लिये हिंदेशियाकी यात्राकी, जिससे गलती करनेवाले साम्राज्यवादियोंके सामने एशियायी भातृत्व-भावना द्वारा सब सम्मिलित हो सकें । उनकी धारणा थी कि ऐसा करनेपर उन्हें किसी भी दलमें शामिल होनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी ।

भूमि तैयार हो चुकी थी । भारतमें १९४७ में दिल्लीमें एक बहुत सफल एशियायी सम्मेलन किया था । उन्होंने डच शासनसे हिंदेशियाको मुक्त करनेके प्रश्नको उपस्थित करनेमें प्रमुख भाग लिया था । नये प्रयत्नोंमें ब्रह्मा उसका समर्थन करेगा । चीन उसका आदर करता था। शक्ति सर्वदा मान्य होती है । सम्भव है यही ऐसा प्रयत्न हो, जिसके द्वारा भारतकी स्वदेशीय, विदेशी और सीमांत परस्थित पाकिस्तानकी समस्याओंका हल प्राप्त हो जाय । शांतिके एक नये क्षेत्रका नेतृत्व करनेवाला भारत, किसी अन्य शक्ति या शक्ति-समूहसे प्राप्त होनेवाली सहायताके बदले अपनी मित्रता प्रस्तुत कर सकता था ।

उस वर्ष विषुवत रेखाको पार करते समय नेहरूको अवश्य संदेह हुआ होगा कि क्या वे यथा समय पड़ोसी एशियाको जागृत कर सकेंगे ? क्यों कि समय दौड़ रहा था । यहाँ तक कि कामनवेल्थ भी कम्यूनिज्मसे प्रतिरक्षा संबंधी बात करने लगा था। अंतर्राष्ट्रीय मामलोंमें भारतका प्रधान समर्थक, अमेरिका, शीत युद्ध-नीतिका शिकार बनने लगा था। नये मित्रोंको खोजना आवश्यक था ।

उसी समय २५ जूनको एक ऐसी घटना घटी, जिसने समस्त परिस्थितिमें नाटकीय परिवर्तन कर दिया । कोरियामें युद्ध छिड़ गया । उत्तरी कोरियाने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। ऐसी विस्फोटक परिस्थितिमें क्षुब्ध अमेरिका युद्धके बीचमें कूद पड़ा । जनरल गलस मेक आर्थरने सैन्य संचालनका कार्य संभाल लिया । कोरिया भूमिपर अमेरिकाने फौजें जा उतरीं ।

१५ जुलाई तक इस हस्तक्षेपको नियमितता प्रदान करनेके लिये राष्ट्रसंघका झंडा काममें लाया जाने लगा । सुरक्षा परिषदसे सोवियत प्रतिनिधिकी किसी अन्य कारणवश

अनुपस्थिति द्वारा यह बात संभव हो सकी। इस नीचतापूर्ण हस्तक्षेप पर निषेधाधिकारका प्रयोग नहीं हुआ और इस प्रकार अकस्मात तृतीय विश्वयुद्ध सामने आता दिखलाई पड़ा। चीनकी जनगणतंत्रीय सरकारने संयुक्त राज्य अमेरिका पर दोषारोपण किया कि वह कोरियाकी सरगर्मियोंको चीनी मुख्यभूमि पर आक्रमण करनेका एक बहाना बनाना चाहता है।

भारतकी प्रतिक्रिया सबसे अधिक विचित्र थी। उत्तरी और दक्षिणी कोरियाके तत्सम्बन्धी गुणदोषोंको जाने बिना ही दिल्लीने राष्ट्रसंघीय हस्तक्षेपके पक्षमें मत दे दिया। यह निर्णय अप्रिय था, जिसका एशिया-वासियोंने आदर नहीं किया। एशियाके लिये प्रश्न यह नहीं था कि उत्पीड़क कौन है? यह विषय तो कोरियाके दोनों भागोंको तय करना था। साम्राज्यवादको वहाँ पहुँचनेका कोई कारण न था।

काँग्रेस पार्टीकी ओरसे बोलते समय नेहरूकी भी यही धारणा थी, पर भारत जिस परिस्थितिमें था, उस दशामें उसने एक दलालकी तरह आचरण किया। (राष्ट्रसंघीय)–संयुक्त राज्यीय हस्तक्षेपका जहाँ एक ओर समर्थन किया गया, वहाँ दूसरी ओर अपने आपको इस मामलेसे किसी अंश तक अलग रखनेका भी प्रयत्न किया गया। नेहरूने ट्रूमेन और स्टालिनको पत्र भेजकर यह आशा व्यक्त की, कि कोरिया-युद्धके स्थानीय कारणकी दिशामें प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जायगा और स्टालिनकी ओरसे उन्हें यथेष्ट उत्साहपूर्ण उत्तर भी प्राप्त हुआ। थोड़े ही दिनों पश्चात यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस अभियानमें भाग लेनेके लिए भारतीय सेनाएँ नहीं, वरन् केवल डाक्टरी सहायता भेजी जायगी, एक प्रकारकी मानवीय सद्भावना।

इस कठिन परिस्थितिको कुशलतापूर्वक संभालना और भी अधिक मर्मज्ञतापूर्ण तब हो गया, जब संघर्षपूर्ण इस दीर्घकालीन युद्धके दलदलमें हस्तक्षेपकारी सेनाएँ फँस गईं। साम्राज्यवाद कोरियामें हार रहा था। भारत शांति-स्थापक कहा जाने लगा था। मूल राष्ट्रीसंघीय प्रस्तावका जो हिचकिचाहटपूण समर्थन उसने किया था, उसे भी भुला दिया गया। काँग्रस पार्टी तथा उसकी विदेश नीतिके प्रधान निर्धारकको संतुष्ट होनेक लिये कारण था।

कॉंग्रेस पार्टीमें प्रतिक्रिया

कोरिया युद्धकी प्रगति तथा उसके पश्चात्की घटनाएँ सर्व विदित हैं, जिनके विवरणकी कोई आवश्यकता नहीं। प्रत्येक सेना द्वारा ३६ वीं समानांतर पार करने और चीनी मंचूरियाकी सीमा पर स्थित यान नदीकी ओर अग्रसर होनेके कारण वह शक्तिशाली भूमि भी संघर्षरत हो गई। उसके उपरांत अमेरिकन श्रेष्ठताके मिथ्या विश्वासकी धज्जियाँ उडीं तथा समाजवादी-दुनियाँकी शक्ति और आत्मविश्वासका प्रदर्शन हुआ।

अंततः सेनाएँ समानांतरके दक्षिणकी ओर खदेड़ दी गई। उन्हें सैनिकोंकी एवं युद्धसामग्रीकी अपार हानि उठानी पड़ी—अमेरिकाने इस घटनाको "युद्ध इतिहासमें सर्वाधिक सफल और कुशलतापूर्ण प्रत्यावर्तन" कहा, एशियाने इस घटनासे शिक्षा ग्रहण की। यह धारणा जड़ पकड़ने लगी कि साम्राज्यवादी आंतकका युग समाप्त हो रहा है।

लेकिन यह प्रक्रिया बहुत धीमी थी, जो व्यग्रताके साथ अनेक महीनों तक चलती रही। इसी बीच नेहरूकी विदेश-नीतिकी कॉंग्रेस पार्टीमें प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण थी। तटस्थताका नारा सक्रिय तटस्थतामें बदल रहा था। यह सक्रिय शब्द ही वास्तवमें विदेशी मामलोंमें भारत द्वारा स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनानेका प्रारंभबिंदु है। इस गतिकी पटेल आलोचना करते थे। उन्हें यह दीखता था कि इसका अर्थ भारत और पश्चिमी संसारके मार्गोंका पृथक्करण है।

सार्वजनिक रूपमें नेहरूका विरोध नहीं हुआ, लेकिन सितम्बर १९५० में होनेवाली अखिल भारतीय कॉंग्रेसके नासिक अधिवेशनके समय यह बात नेताओंके मस्तिष्कमें थी। समस्त दर्शकोंकी दृष्टिमें पार्टीके सभापतिके रूपमें प्रतिक्रियावादी पुरुषोत्तमदास टंडनका चुनाव नेहरूकी हार थी और यह घटना इस बातका स्मरण दिलाती है कि पार्टी-मशीन कितना प्रभाव डाल सकती है।

लेकिन नेहरू समयके साथ चल रहे थे। उनके पथ-भ्रष्टकोंकी अपेक्षा उनका दृष्टिकोण अधिक यथार्थ था। थोड़े ही दिनोंमें समाचार-पत्रोंके शीर्षकोंमें यह घोषणा प्रसारित हुई कि यह अधिवेशन नेहरूकी व्यक्तिगत विजय थी।

कॉंग्रेसने शांतिको अपनी नीतिका मुख्य आधार बनानेका निश्चय किया था और शांति-नीतिका अर्थ, संयुक्त राज्य अमेरिकाकी युद्धनीतिके साथ अधिकाधिक संघर्ष

था। पटेल इस तत्वको अच्छी तरह समझते थे, लेकिन वे इस लहरको रोकनेमें असमर्थ थे। शांति, भारत और एशियाके लिये बहुत आवश्यक थी। नेहरू अपनी नीति बदलनेके लिये तैयार न थे। उन्होंने यह समझ लिया था कि इस समय किसी प्रकारका समझौता भारत और चीनकी मित्रताको समाप्त कर देगा, जो एशियायी एकताका मुख्य आधार था और आगे चलकर साम्राज्यवादी घोषणाके विरुद्ध एकमात्र गारंटी थी।

एक मासके अंदर ही नेहरूको एक दूसरी परीक्षा देनी पड़ी। एकाएक तिब्बतकी समस्या एक चट्टानकी तरह सामने आ खड़ी हुई, जिससे टकराकर भारत-चीनकी मित्रता नष्ट हो सकती थी। कुछ दिनोंसे पेकिंग-तिब्बतकी विवादास्पद स्थितिको साफ करनेकी आवश्यकता पर जोर डाल रहा था। दिल्लीने यह बात सुनी अनसुनी कर दी थी। उनका यह आचरण इस दृष्टिसे विचित्र था कि तिब्बत हमेशासे चीनका ही एक भाग समझा जाता था और १९४७ में दिल्लीके अंदर होनेवाले एशियायी सम्मेलनमें यह बात मान ली गई थी। केवल इसकी कुछ सीमाओंकी औपचारिक स्वीकृति ही शेष रह गई थी।

कोरियाके युद्ध तथा चीनी समुद्रतट पर बढ़ते हुये संकटको देखते हुए पेकिंगने यह निर्णय किया कि वह अब अधिक नहीं रुक सकता। ल्हासासे एक प्रतिनिधि-मंडल भेजकर इस विषयमें बातचीत करनेके लिये जोर डाला गया। लेकिन यह प्रतिनिधिमंडल सीधे चीन नहीं गया। वह भारत आया, क्यों कि उसने लम्बा मार्ग अपनाना पसंद किया। पासपोर्टका पूरा प्रबंध होनेके उपरांत भी वह चीन जानेमें विलम्ब करता रहा। यह विलंब बड़ा संदेहास्पद था, क्यों कि हरेकको मालूम है कि तिब्बतके पठारका मार्ग जाड़ोंमें रुक जाता है और मध्य नवंबर तक निर्जन हो जाता है। तदोपरांत चीनकी ओरसे किसी प्रकारकी फौजी कार्यवाही सम्भव नहीं थी।

यह विलंब पेकिंगको क्रोधित कर रहा था, पर यदि यह अफवाहें गरम न होतीं कि तिब्बतको अपनी प्रतिरक्षाके लिये, अमेरिकन सहायता मिलनेकी सम्भावना है, तो इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। वह एक विकट संकट था और तिब्बतके प्रतिनिधि-मंडलकी चालोंने पेकिंगको सर्दी आनेके पहले ही २४ अक्तूबरको अपनी सेनाएँ वहाँ भेजनेपर विवश कर दिया।

यही वह संकेत था, जिसकी भारतमें स्थित अमेरिकन प्रतिनिधि राह देख रहे थे। वे निराश्रित छोटेसे देश तिब्बतके विरुद्ध चीनके अभ्याघातकी निंदा करनेमें व्यस्त हो गये। भारत सरकार भी तीव्र वादविवादके स्तरपर लगभग उतर आई। लेकिन तिब्बतपर चीनकी सार्वभौसिकता स्वीकार करनेके साथ साथ शीघ्र ही मामला साफ हो गया। यह घटना इस ओर इंगित करती थी कि इस तीव्र परिवर्तनशील अंतरिम कालमें आकस्मिक कठिनाइयाँ किस प्रकार उपस्थित हो सकती हैं।

काँग्रेस पार्टीके दलगत संघर्ष विदेशी मामलोंमें भारतकी स्वतत्रता प्रतिपादनमें देशकी आर्थिक स्थितिके कारण रुकावट डाल सके।

भारत वासियोंकी समस्या सुलझानेके लिये कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया। निराशा और कटुता समस्त देशमें व्याप्त हो रही थी। काग्रसमें व्याप्त कटुता तथा वाम-पंथियोकी निराशाके कारण इस परिस्थितिका किसी प्रकारका पूर्ण विवेचन सम्भव नहीं मालूम पड़ता था। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टीके जनरल सेक्रेटरी बी. टी. रणदिवेके स्थान पर रामेश्वरराव नियुक्त हुये थे। यह परिवर्तन केवल ऊपरी सतहपर ही दिखलाई पड़ता था, क्यों कि इस राजनैतिक दलके विचार और व्यवहार निरर्थक ही बने रहे, जो ऐसी परिस्थितिमें मार्ग प्रदर्शित कर सकते थे।

अकस्मात १५ दिसंबर १९५० को वल्लभभाई पटेल महाप्रयाण कर गये। अब जवाहरलाल नेहरू शासक पार्टीके एकमात्र नेता रह गये।

१९५१, भारतीय स्वतंत्र स्थितिकी तीव्र प्रगति देखनेवाला था। वर्षके आरंभमें राष्ट्रमंडलके प्रधान मंत्रियोंकी लंदनमें होनेवाली बैठकमें भाग लेते समय नेहरू संयुक्त राज्यके 'मार्शल सहायता' नामक अस्त्रका निर्दय अर्थ समझ सके, जिसके अनुसार पश्चिमी यूरोपको अतलांतिक संधिके अंदर पश्चिमी जर्मनीके प्रवेशके लिये राजी कर लिया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य संयुक्त सोशलिस्ट सोवियत रूसके विरुद्ध था। यह एक ऐसा कदम था, जिसने पश्चिमी जर्मनीके पुनः शास्त्रीकरणकी बात ढक ली। संयुक्त राज्यके

राष्ट्रविभाग द्वारा थोपी हुई शर्तोंके कारण वह इस सहायताको स्वीकार करनेवाले राष्ट्रोंकी निराश्रयता भी अच्छी तरह देख सके ।

इस विदेश यात्राने उन्हें युद्ध विभीषिकाकी गंभीरतासे अच्छी तरह परिचित करा दिया और वे यह बात भी समझ गये कि यदि यह विश्वयुद्ध छिड़ गया तो एशिया इसमें सम्मिलित होनेसे नहीं बच सकता । वे युद्धकी तैयारियोंकी तथा युद्ध-संधियों और प्रलयकारी अस्त्रोंके अधिक तीव्र और स्पष्ट आलोचक होकर वापस लौटे ।

उनका अब भी यह विश्वास था कि इन विचारोंके कारण पश्चिमसे प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता बंद नहीं होगी । लेकिन यह दुःस्वप्न था, क्योंकि शांतिपूर्ण और प्रधानतया सैद्धांतिक विदेशनीति तथा प्रतिक्रियावादी दिवालिया गृहनीतिके मतभेद अब बढ़कर निदयतापूर्वक भविष्यकी प्रवृत्तियोंका रूप निर्धारित करनेवाले थे ।

संसार और एशियाके सामने कोरिया एक महत्वपूर्ण समस्या बना रहा, एक ऐसा दाहक–गोला जो सब कुछ प्रज्वलित कर सकता था । राष्ट्रसंघमें विद्यमान विचित्र परिस्थितिके कारण युद्धबंदीका प्रत्येक प्रयत्न प्रारंम्भसे ही निरर्थक सिद्ध हो रहा था । संयुक्त–राज्य–अमेरिकाके नेतृत्वमें पश्चिमी शक्तियों द्वारा नये चीनको राष्ट्रसंघमें प्रविष्ट न होने देनेके कारण, शांतिप्रिय राष्ट्रोंको भारी उलझन और भारत सरकारकी फारमोसाके स्थानपर अंतर्राष्ट्रीय वादविवादमें पेकिंगको सुननेकी माँगको अधिक बल प्राप्त हुआ ।

संपूर्ण मानवताके नाम पर राष्ट्र-मंडलीय प्रधान मंत्रियोंकी सोवियत संघ और कम्यूनिस्ट चीनसे स्पष्ट विचार विमर्शकी माँग निरंतर बढ़ती शांतिकी भावनाके साथ मिल कर भी संयुक्त राज्य अमेरिकाके राजनीतिज्ञों पर आशाके अत्यंत विपरीत ही प्रभाव डाल सकी । वे तो गरमी बढ़ाते गये ।

७ मार्चको ईरानके प्रधानमंत्री राजमराकी हत्या कर दी गई और लोगोंमें यह विश्वास फैला हुआ था कि इस हत्याकी प्रेरणा संयुक्त-राज्यकी गुप्त पुलिसने दी थी । क्यों ? ब्रिटेन अधिकृत अबादान तैलक्षेत्रको राष्ट्रीयकरणके ईरानियोंके प्रमुख नारोंके कारण अमेरिका मध्यपूर्वमें ऐसी प्रेरणा क्यों देना चाहेगा, जब वहाँ उसकी भी

बहुमूल्य लागत लगी हुई हो ? ऊपरसे देखने पर यही मालूम पड़ता था, लेकिन वाशिंग्टन राष्ट्रीयकरणकी माँगका कुछ गहरे कारणोंसे समर्थन कर रहा था।

इस चाल द्वारा ब्रिटिश विरोधी भावनाओंको बल देकर ब्रिटेनको उसकी सुविधाजनक स्थितिसे उखाड़कर अनुकूल परिस्थितिमें मध्यस्थके रूपमें तेलक्षेत्रके अधिकतर हिस्सोंको अपने अधिकारमें ले लेनेकी आशा की गई थी, पर यह ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ सामान्यतया संयुक्तराज्य अमेरिकाको भी सम्मलित करके साम्राज्यविरोधी बन गईं। प्रधान मंत्री मोहम्मद मुसद्दीककी चालोंने उनके कल्पनालोकको लगभग नष्ट ही कर दिया, लेकिन अंतमें संयुक्त राज्यका स्वराष्ट्र विभाग अगस्त १९५३ में दो वर्ष बाद अपनी इच्छा पूरी कर सका।

अमेरिकन चालोंने दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियोंको सुरक्षात्मक कदम उठाने पर विवश कर दिया। ईरान समस्याकी प्रगतिके समानान्तर ब्रिटेनने इस डरसे कि कहीं अमेरिकन प्रवेशके कारण उनके पाकिस्तानपर नियंत्रणके लिये भय उपस्थित हो गया हो, उन्होंने स्काटलेंड यार्ड द्वारा कराँचीकी पाकिस्तान सरकारको अपदस्थ करनेके तथाकथित षड्यंत्रका विवरण प्रस्तुत किया।

९ मार्च १९५१ को पाकिस्तानी सेनाके सेनापति मेजर जनरल अकबर खाँ तथा अनेक अन्य प्रवर अफसरोंको बंदी बना लिया गया। इसके साथ ही पाकिस्तान टाइम्सके प्रगतिशील संपादक फैज अहमद फैज तथा साम्यवादी नेता सज्जाद जहीरको इस योजनामें क्रेमलिनका हाथ बतलानेके लिये बंदी बना लिया गया, जिससे सरलतासे वाशिंग्टन इसका समर्थन कर सके। दरअसल बंदी अफसर काश्मीर समस्याको युद्ध द्वारा हल करनेके समर्थक माने जाते थे और अमेरिकासे इस विषयमें सहायता प्राप्त करनेकी अपेक्षा रखते थे। उनका विश्वास था कि कोरियामें संयुक्त-राज्यीय सेनाओंको पाकिस्तानी सैनिक सहायताके द्वारा वे उसे प्राप्त कर सकेंगे।

इस विषयमें ब्रिटेन तथा अमेरिकाके अन्य मित्रोंकी यह दृढ़ धारणा थी कि कोरियामें युद्धबंदी की जाय। उसका विचार ऐसे किसी साहसिक प्रयत्नमें सम्मिलित होनेका न था, जिसके परिणाममें संदेह हो। मेक आर्थर इस विचार-

धारासे असहमत थे। वे चीनको जीतनेके स्वप्न देख रहे थे। लेकिन मित्रराष्ट्रोंकी इच्छा पूरी होनी थी।

११ अप्रैल १९५१ को राष्ट्रपति ट्रूमेनने मेक आथरको पद-च्युत कर दिया। कोरियामें शांति स्थापित हुई। यह स्पष्ट था कि संयुक्त राज्यकी नीतिको भारी धक्का लगा और साम्राज्यवादी युद्धके बंधनोंसे अपने आपको मुक्त करनेके अपने निर्णयमें एशियायी देशोंको अब शक्ति प्राप्त हुई।

कोरिया-अभियानकी असफलताके परिणाम तथा कम्यूनिस्ट विरोधी-योजनाओंमें ब्रिटेन और फ्रान्सके बढ़ते हुये विरोधकी सम्भावनाको संयुक्त राज्य अमेरिकाने अच्छी तरह समझ लिया। एशिया-विषयक अमेरिकन नीतिको समर्थनकी आवश्यकता थी, पर कैसे? स्पष्ट रूपमें शीत युद्ध—अवस्थामें गणतंत्र भारतकी स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण थी। इस कारण दृढ़ गणतंत्री जवाहरलाल नेहरूसे संपर्क स्थापित करनेकी बातको तत्कालीन प्राथमिकता दी गई, जिनको अमेरिकन समाचार-पत्र "निरंतर बढ़ते हुये परस्पर विरोधी विचारोंके समूह" कहा करते थे। एशियाका शक्ति संतुलन बदलनेके लिए भारतीय विरोधको क्रय करनेके एक नवीन प्रयत्नका निश्चय हुआ। इससे अच्छा अवसर कब मिल सकता था।

भारत सरकारको सब ओर संकटोंका सामना करना पड़ रहा था। पिछले युद्ध-कालसे निरंतर बनी रहनेवाली अन्नकी कमी बहुत बढ़ गई थी। मानसूनकी विफलताने परिचालन गत्यावरोध और अन्न भंडारोंकी पूर्ण अनुपस्थिति; अनेक क्षेत्रोंमें लोगोंको इतना निराश कर दिया था कि वे भूखोंके जलूस निकालकर प्रदर्शन करने लगे थे। पुलिस द्वारा गोलीकांड हो रहे थे। दिल्ली चिंतित थी कि यदि मध्य जुलाई के मानसून भी विफल हो गये, तो क्या होगा।

सरकार और कॉंग्रेस पार्टीमें भी भयंकर राजनैतिक मतभेद दिखलाई देने लगे थे। प्रधानतया नेहरूके समर्थक, उन्मूलनवादी भी गृह-स्थितिकी उपेक्षा करके विदेशी मामलोंमें प्रधान मंत्रीकी व्यस्तताके कारण थक गये थे। इस दलने सरकारकी आंतरिक नीतिकी आलोचना 'दिवालिया' कहकर करनी शुरू कर दी और उसे बड़े व्यापारियोंके हितोंसे संबद्ध समझने लगे।

यह बढ़ता हुआ विद्रोह स्पष्ट न था। इसमें राजनीतिज्ञोंका बाजीगर पिटारेकी तरह एक दल इकट्ठा हो गया था, जिसमें कुछ सैद्धांतिक और अन्य, अवसरवादी थे। आगामी सामान्य चुनावोंने भी काँग्रेसके अंतर्द्वंद्वों पर अपना प्रभाव डाल रखा था। इस खाईको पाटनेके प्रयत्नोंके बावजूद भी असंतोष खुलकर सामने आ गया।

नेहरूके एक विश्वास-पात्र साथी और काँग्रेस उन्मूलनवादी दलके प्रभावशाली प्रतिपादक रफी अहमद किदवईने केन्द्रीय संचार-मंत्रीके पदसे १६ अप्रैलको त्यागपत्र दे दिया। १४ मई तक किदवईने यह भी घोषणा कर दी कि वे काँग्रेस पार्टीसे भी त्यागपत्र दे रहे हैं। इसके दूसरे ही दिन काँग्रेसके एक अन्य आदरणीय नेता श्री. जे० बी० कृपलानीने यथार्थमें त्यागपत्र देनेका कदम भी उठा लिया। यद्यपि अगस्त तक किदवई केन्द्रीय-मंत्रिमंडलमें बने रहे, पर नेहरूको यह स्पष्ट दीख गया कि देशकी आर्थिक-समस्या अब आगे ढुलमुल नहीं रखी जा सकती।

पर इस विषयमें वे बहुत कम काम कर सकते थे। काश्मीर अब भी भारतके हृदयमें चुभनेवाला साम्राज्यवादी काँटा बना हुआ था। इसके हल करनेके अनेक आंग्ल–अमेरिकन सुझाव दिल्लीने अस्वीकृत कर दिये थे – और पाकिस्तान एक विस्फोटकका काम करता रहा। नैपालमें भी राजनीतिक कठिनाइयाँ वहाँके राणाओंके अमेरिकासे संधि करनेके विचारोंके कारण बढ़ गईं थीं। इस कदमसे चीन असंतुष्ट हो जाता तथा तिब्बतकी परिस्थिति जटिल हो जाती। किसी भी प्रकार नेहरू स्वराष्ट्र तथा इसी कारण समस्त पूर्वी-एशियाके साम्राज्यवादी षड्यंत्रोंके प्रति अपना विरोध कम न कर सके।

यह परिस्थिति बड़ी नैराश्यपूर्ण थी, पर इसी समय संयुक्तराज्यके स्वराष्ट्र-विभागने भारतको १६ करोड़ डालरके मूल्यपर २० लाख टन अन्न उधार देनेका प्रस्ताव किया। दिल्ली आनन्दोल्लसित हो उठी। ऐसा प्रतीत हुआ कि अंतमें संयुक्त-राज्य अमेरिकाने भारतकी वैदेशिक समस्याओंके प्रति ध्यान न देकर इसकी मित्रता प्राप्त करनेका निर्णय कर लिया है। भारतके शासक-वर्गने इस विचारसे खुशी मनाई कि उसके सद्भावोंमें अब संदेह नहीं किया जाता। चाहे दोनों देशोंमें मतविभिन्नता हो, पर उनके मित्र न रहनेका कोई कारण नहीं है।

लेकिन यह प्रसन्नता अल्पकालीन थी। जो देश उनकी विचारधाराका समर्थन नहीं करते हैं, उनकी सहायताके बारेमें संयुक्त-राज्य अमेरिकामें एक अत्यंत नृशंस और बर्बर सार्वजनिक विवाद उठ खड़ा हुआ। यह देखते हुये किसी भी निष्पक्ष पर्यवेक्षकको यह समझनेमें कठिनाई न पड़ती कि वाशिंगटनके 'स्वतंत्रताके लिये युद्ध करनेवालोंको' भारतकी क्षुधाका लाभ उठाकर संसारपर शासन करनेकी अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये उसे विवश करनेमें कोई संकोच न होगा।

ज्यों ही यह नृशंस विवाद अमेरिकामें बढ़ा, भारतमें होनेवाली क्रोधित सभाओंने उसका उत्तर दे दिया। यह माँग जोर पकड़ने लगी कि एक प्रमुख अमेरिकन सीनेटरकी रायके अनुसार अमेरिकासे यह कहा जाय कि वह अपना अनाज वहीं रखकर जानवरोंको खिला डाले। संसारने शायद ही कभी इस प्रकारका बर्बर तर्क सुना हो, जैसा भारतको दिये जानेवाले अन्न-ऋणको लेकर संयुक्त राज्यमें उठ खड़ा हुआ। कोलियरकी मेगजीनमें लिखते हुये एक लेखकने अपनी टिप्पणीके अंतमें लिखा है कि "हम आज वह चीज देख रहे हैं, जो शायद भारतसे मित्रतापूर्ण सम्बंधोंकी समाप्तिका श्रीगणेश हो।"

अस्तु १५ जून तक राष्ट्रपति टूमेनने अपने हस्ताक्षर उस विधेयक पर कर दिये, जिसका नाम "**भारत संकट कालीन अन्न सहायता नियम १९५१**" है। २० लाख टन अनाज समुद्री मार्गसे लदने लगा। लेकिन भारतीयोंके लिये इस अनाजमें कटुता थी और इसी कटुताका स्वाद भविष्यके निर्णायक-वर्षोंमें भारत-अमेरिकन सम्बधोंमें दीखता है।

काँग्रेसकी आर्थिक नीति

जब तक मेरे देशके एक कुत्तेको भी भोजन प्राप्त नहीं होता, मेरा परम धर्म उसका पेट भरना होगा —

— विवेकानंद।

कड़वी रोटी। आत्म निर्भरता और आत्म विश्वासकी शिक्षा भारतवासियोंको इतनी अच्छी तरह कभी नही मिली थी। वह विश्वकी राजधानियोंमें भिक्षाका पात्र लेकर नहीं घूम सकता था। लेकिन भारतीय शासकोंको यह शिक्षा अपने संकीर्ण दृष्टिकोणसे अच्छी तरह लेनी अभी बाकी थी।

योजना आयोगके राष्ट्रीय विकास कार्यक्रमके प्रारूपमें यह बात ६ जुलाई १९५१ को स्पष्ट कर दी गई थी। यह थी पंच-वर्षीय योजना, जिसमें रु० १४५३ करोड़ व्यय करनेका पक्का विचार था (इसके अतिरिक्त भी ३०० करोड़ रुपयोंकी गुंजाइश और रक्खी गई थी)। तीसवें तथा पचासवें वर्षोंके काँग्रेसके आर्थिक विचारोंके बीच ज़मीन आसमानका अंतर था, योजनामें ब्रिटेन तथा अमेरिकासे मुक्ति प्राप्त करनेकी भारतीय शासकोंकी दृढ़ धारणा प्रतिबिम्बित हो रही थी। लेकिन इस आर्थिक नीलपत्रकी बातोंपर विचार करनेसे पहले काँग्रेस-पार्टीकी तत्कालीन विचारधाराको समझना आवश्यक है।

स्वतंत्रताने जो अवसर प्रदान किये थे, उनके देखते हुए तत्कालीन सवशक्तिमान भारतीय पूँजीजीवियोंकी यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य अमेरिकाके साथ उनके सम्बंधोंमें एक नया अध्याय खुल रहा है। अब आर्थिक सम्बध शासक और शासितके रूपमें नहीं, वरन परस्पर समानता और लाभके आधारपर स्थापित होंगे। भारत और ब्रिटेनके बीच 'नई मित्रता' को लोकप्रिय बनानेके कुछ स्पष्ट प्रयत्न इसी मानसिक दृष्टिकोणके परिणाम हैं।

यह भावना व्याप्त थी कि साम्राज्यवादी लूटका युग समाप्त हो रहा है और अब भारतीय पूँजीजीवियोंको वैसी ही शक्ति तथा समृद्धि प्राप्त करनेकी

सम्भावना है जैसी ब्रिटेन और अमेरिकाके पूँजीजीवियोंने की थी। इस विषयपर साम्राज्यवादी क्षेत्रोंमें मतैक्य नहीं था। सत्ताका हस्तांतरण देशके विभाजनके बाद ही सम्पन्न हुआ, यही तत्व उन भारी संघर्षोंकी ओर इशारा कर रहे थे, जिनके कारण भारतीय पूँजीपतियोंके दिवा-स्वप्न नष्ट हो जायँगे।

स्पष्ट ही भारतीय व्यापारियों और औद्योगिकोंको प्रथम कदम यह लेना चाहिये था कि विदेशी पूँजीको अब पुरानी सुविधाएँ प्राप्त न हो सकें। यह माँग इस कारण जरूरी थी कि काँग्रेस पार्टी द्वारा यह विश्वास दिलाया जा रहा था कि विदेशी पूँजी न तो ली जायगी और न उसे देशके बाहर ही खदेड़ा जायेगा।

फरवरी १९४८ को अपनी वक्तृतामें श्री नेहरू तकने यह कहा था कि "आर्थिक ढाँचेमें कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं होगा। जहाँ तक सम्भव होगा उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा।" आगे १६ अप्रैल १९४८ को औद्योगिक नीति-विषयक सरकारी प्रस्तावने इस विषयको अधिक स्पष्टकर दिया। इस प्रस्तावमें बतलाया गया था कि राष्ट्रीयकरण फौजी सामान, अणुशक्ति तथा रेलवे (जिनका राष्ट्रीयकरण हो चुका था) तक ही सीमित रहेगा और कोयला, लोहा, इस्पात तथा अन्य महत्वपूर्ण उद्योगोंके विषयमें "सरकारने यह निर्णय किया है कि अगले १० वर्ष तक मौजूदा उद्योगोंको पनपने दिया जाय"। और "शेष औद्योगिक क्षेत्रको सामान्य रूपसे व्यक्तिगत प्रथाके लिये उन्मुक्त रखा जाय"।—कमसे कम उस समय तक जब तक कि इस परिस्थितिका पुनरावलोकन न हो।

इन सबका अर्थ यह था कि भारतमें चलनेवाले बड़े-बड़े साम्राज्यवादी एकाधिकारोंको देशी समवायों और व्यापारिक प्रतिष्ठानोंके समकक्ष अवसर प्रदान करनेका विश्वास दिलाया गया था। फिर भी अनेक पर्यवेक्षक इस प्रस्तावके राष्ट्रीय कृत औद्योगिक विकासवाले अंशके उपबंधोंकी निंदा करते रहे। कोयला, लोहा और इस्पात, जहाज-निर्माण, वायुयान-निर्माण, तार, टेलीफोन और बेतार के तारके उपकरणोंके विषयमें हल्का-सा इशारा करनेका स्पष्ट अर्थ यह बतलाना था कि तत्कालीन सरकार किस दिशामें सोच रही है। यह सच है कि सरकारी प्रवक्ताओंने इस ओर ध्यान आकर्षित नहीं किया, पर जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, कि यह प्रस्ताव आगे आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगतिकी कुंजी बन गया।

प्रस्तावसे संभवतया साम्राज्यवादी भयभीत न हो जायँ, इस ज्ञानके कारण उन्हें पुनः विश्वास दिलानेका प्रयत्न किया गया। एक व्याख्यात्मक टिप्पणीमें यह घोषणा की गई, कि "सरकार द्वारा वैयक्तिक क्षेत्रमें लाभको सीमित और नियंत्रित करनेकी सम्भावना पर बाजार बहुत चिंतित है, लेकिन जिस नीतिकी घोषणा हुई है उसमें इसकी ओर कोई इशारा नहीं है।"

उसके उपरांत रहे-सहे अविश्वासको समाप्त करनेके लिये टिप्पणीमें पुनः विश्वास दिलाया गया था, कि "यह प्रस्ताव विदेशी पूँजीको और भारतीय उद्योगोंमें उनके प्रयत्नोंको पूर्ण स्वतंत्रता देता है और साथ ही विश्वास दिलाता है कि राष्ट्रीय हितमें उसे नियंत्रित किया जाना चाहिये।" प्रस्तावका यह अंश भारत सरकारकी प्रबंधन, तांत्रिक-शिक्षा और नियोगताके लिये विदेशी पूँजीकी आवश्यकताको स्वीकार करता है तथा भारतीय प्रयत्नोंकी अनुपूर्तिमें विदेशी पूँजी और बुद्धिका अभिवादन करनेकी बुद्धिमानी दिखलाता है। यथार्थमें तीसवें वर्षोंके विचारोंसे यह बात बहुत आगे थी।

कुछ लोगोंने यह सोचा होगा कि इन विश्वासोंके उपरांत तथा यह जानते हुए कि भारत ब्रिटिश कामनवेल्थसे सम्बंधित रहनेवाला है, लंदन और वाशिंग्टनके धनी तानाशाह अपनी थैलीका मुँह खोलकर भारतके नये शासकोंको अपनी स्थिति सुदृढ़ करनेके लिये आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर देंगे। साम्राज्यवाद इससे अधिक और किन विश्वासोंकी अपेक्षा कर सकता था? दरअसल यह स्थिति इतनी समझौताप्रिय थी कि साम्यवादी एवं अन्य वामपंथी विचारकोंने इस नीतिकी बड़े कड़े शब्दोंमें भर्त्सना करना आरंभ कर दिया।

फिर भी सहायता थोड़ी ही प्राप्त हुई। इसके विपरीत ब्रिटिश और अमेरिकन पूँजी स्रोतोंमें भारतकी प्रवृत्तियोंके बारेमें आलोचना होने लगी। पश्चिमसे व्यापारियोंको चेतावनी दी गई कि वे होशियारीसे कदम बढ़ावें और भारतीय व्यापारियोंसे सौदा करनेमें तब तक जल्दबाजी न करें, जब तक कि अधिक 'स्पष्ट' विश्वास न प्राप्त हों।

परिवर्तन विरोधी, दक्षिण-पंथी सरदार पटेलके नेतृत्व तथा बड़े पूँजीजीवी हितोंकी प्रतिपादक कॉंग्रेस पार्टी इसी विश्वासको पोसती रही कि सहायता प्राप्त हो जायगी।

यह सच है कि शीतयुद्धकी परिस्थितिके एवं विदेशोंमें स्थित धनिक मित्रोंकी इस निरंतर माँगके कारण कि भारतको 'साम्यवादी संकट' से अधिक स्पष्टरूपमें पृथक् कर लेना चाहिये, यह तत्व अशांत हो उठे थे। नेहरूजीकी तटस्थता एक आवश्यक बुराई थी, पर फिर आखिर वह हमेशा यह तो कह ही सकते थे कि स्वराष्ट्रमें साम्यवादी पार्टी अवैध घोषित कर दी गई है।

इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्थाके इन मिश्रित विचारोंके साथ नेहरूने १९४८ में संयुक्त-राज्य अमेरिकाकी यात्रा की। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वे भारतमें इस स्पष्ट धारणाके साथ वापस आये कि रूजवेल्टके पश्चात-वाला अमेरिका अधिक दिखावटी बन गया है और घरेलू समस्याओंको हल करनेके लिये आत्म-निर्भरताकी आवश्यकता पर अधिक बल देने लगे।

साथ ही सरदार पटेल और उनके साथी यह अच्छी तरह समझते थे कि साम्राज्यवाद विरोधी विदेश-नीति तथा साम्राज्यवादी सहायता पर आधारित गृह-नीतिके अंतर मिटाने पड़ेंगे। गणतंत्रकी स्थापनाके वर्ष अर्थात् १९५० में गृह और विदेशके लिये ऐसी नीति निर्धारित करनेका संघर्ष बना रहा, जिसमें उनका अंतर्विरोध नष्ट हो जाय।

यह अनिर्णीत संघर्ष था। नेहरू तटस्थताके सिद्धांतको छोड़नेके लिये तैयार न थे। यद्यपि वे इस बातसे सहमत थे कि साम्राज्यवादका विरोध हलका करना आवश्यक है, जिससे वह अपनी थैलियोंका मुँह खोलनेके लिये उत्साहित किये जा सकें। लेकिन साथ ही वे बार-बार इस बातकी चेतावनी देते थे कि संयुक्त-राज्य अमेरिकाके दबावके सामने आत्मसमर्पण करनेसे भारतीय भावनाको ठेस लगेगी और काँग्रेस जनतासे दूर पड़ जायगी। यह एक महत्वपूर्ण तत्व था, क्योंकि पार्टीको निकट भविष्यमें साधारण चुनाव लड़ने थे। स्वदेशके पास एशिया और मध्य-पूर्वमें अमेरिकनोंके दुःसाहसिक प्रयत्नोंने देशके शक्तिशाली व्यापारियोंको भी इस प्रकारके तर्क करनेके लिये विवश कर दिया, क्योंकि वे अब पुनः गुलामीकी स्थिति मंजूर करनेके लिये तैयार नहीं थे।

इन उलझे दिनोंमें यह बतलानेके लिये किसी ज्योतिषीकी जरूरत नहीं थी, कि देशकी आर्थिक कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये किसी प्रभावशाली औषधिकी

जरूरत है। आत्म-निर्भरताकी नीतिका अर्थ तीसवें वर्षोंके कार्यक्रमको कार्यरूपमें परिणत करना था। कृषिमें क्रांति होनी आवश्यक थी, भूमिकी क्षुधाकी पूर्ति होनी चाहिये। विदेशी लागतको प्राप्त करना आवश्यक है। लोगोंको काम करनेकी प्रेरणा देनी चाहिये, उनमें यह विश्वास उत्पन्न करना चाहिये कि उनके प्रयत्नोंका परिणाम केवल धनी व्यक्तियोंको अधिक धनी बनाना न होगा। विदेशी विनिमयकी रक्षाके लिये एक योजना बनानी चाहिये, जिससे औद्योगिक उपकरण खरीदे जा सकें क्योंकि इसके बिना कोई स्थायी और वास्तविक प्रगति सम्भव नहीं थी।

लेकिन कॉंग्रेसका परिवर्तन-विरोधी दल ऐसे किसी आर्थिक कदमको उठानेके लिये तैयार नहीं था, जिससे विदेशी व्यापारी डर जायँ। उन्होंने तीसवें वर्षोंकी प्रतिज्ञाओंका डटकर विरोध किया। वह एक योजनाकी आवश्यकता माननेके लिये तैयार थे लेकिन ऐसी योजना जिसे ब्रिटेन और अमेरिकाका आशीर्वाद प्राप्त हो सके।

नेहरू, जो आर्थिक मसलोंको समझनेके कभी उत्सुक नहीं रहे, इस अस्पष्ट स्थितिको स्वीकार करनेके लिए उस समय तक तैयार थे, जब तक कि उनकी विदेश-नीति साम्राज्यवादियोंके आशीर्वादपर आश्रित या उसकी पूरक नहीं बनती हो। जब कभी ऐसी सम्भावना दीखती थी, वे त्यागपत्रकी धमकी देनेके लिये तैयार रहते थे। यह ऐसी सम्भावना थी, जिसे सरदार पटेलकी कॉंग्रेस पसंद नहीं करती थी लेकिन नेहरूको किसी मतकी आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार यद्यपि आर्थिक योजनाका काम आरंभ हो गया, लेकिन विदेश-नीति और गृह-नीतिमें विरोध बना रहा।

१९५० के अंतमें जब कि योजनाके रचयिता उसके प्रारूपको अंतिम रूप प्रदान कर रहे थे, कॉंग्रेसके परिवर्तनविरोधी और पूँजीपति तत्त्वोंके सबसे प्रभावशाली प्रवक्ता सरदार पटेलको मृत्युने छीन लिया। आशानुकूल, पार्टी-मशीन उनके पिट्ठुओंके हाथमें बनी रही। लेकिन वह अब उन्मूलकवादी नेहरूकी विशेष प्रतिद्वद्विता नहीं कर सकते थे।

संस्थामें नेहरूकी स्थिति उतनी ही निर्बल बनी रही। उन्हें अपने विरोधोंका ध्यान रखना पड़ता था, लेकिन वे अब उन्हें उस स्थितिमें पटक सकते थे

जिसके लिये वे पहले तैयार नहीं थे। शक्तियोंकी इस नई व्यूह-रचनाकी पृष्ठभूमिमें प्रथम पचवर्षीय योजनाकी घोषणा की गई, जो अपने रूपमें उन्मूलनवादी लेकिन तत्वमें परिवर्तन विरोधी थी। तत्कालीन काँग्रेस पार्टीकी स्थितिकी यह पूर्ण प्रतिछाया थी।

पहले उसके रूप पर विचार करना ठीक होगा। योजना आयोगने योजनाके प्रारूपके आरंभिक शब्दोंमें ही उसके कार्यक्षेत्रकी ओर निम्नलिखित शब्दों द्वारा ध्यान दिलाया था "— राज्य इस प्रकारका सामाजिक रूप प्राप्त करने और उसकी रक्षाका अधिकाधिक प्रयत्न करेगा जिससे जनताका अधिक कल्याण हो तथा जिसमें सामाजिक, आर्थिक, एक राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवनकी सभी संस्थाओंमें विद्यमान हो। साथ ही अन्य वस्तुओंके साथ निम्नलिखित वस्तुएँ प्राप्त करनेकी ओर अपनी नीति उन्मुख करेगा। (क) यह कि सभी स्त्री या पुरुष नागरिकोंको अपनी जीविकाका पर्याप्त साधन प्राप्त करनेका अधिकार हो। (ख) समाजके भौतिक स्रोतोंका स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार वितरित हो, जिससे सर्वसाधारणकी भलाईमें अधिकसे अधिक सहायता मिले। (ग) यह कि आर्थिक व्यवस्थाका परिणाम उत्पादनके साधन और धनका जनसाधारणके नुकसानके लिये केन्द्रीकरण न हो सके।

जो व्यक्ति इन शब्दोंको इस वास्तविकताकी दृष्टिसे पढ़नेका प्रयत्न करेगा कि बिड़ला और टाटाके समान तत्व नहीं, वरन् सरकार ही उन्नतिके लिये पंचवर्षीय योजना लागू करनेवाली है, उसे इस कार्यक्रमके उन्मूलनवादी होनेकी आशा हो जायेगी। आखिर भारत एक पिछड़ा हुआ देश था, जिसे शताब्दियोंके पिछड़ेपनको दूर करनेके लिये दृढ़ और तत्कालीन विकासकी आवश्यकता थी। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी दशामें वह अधिक प्रगतिवान राष्ट्रोंकी तरह स्वतंत्र व्यक्तिगत प्रयत्नोंकी विलासिता सहन नहीं कर सकता था।

इस कारण यह तर्कसम्मत था कि योजनामें समाजवादी कार्यक्रमके अनुसार प्रगति हो, जिससे साम्राज्यवादी निर्भरताका अंत हो सके और लोगोंमें भारी कार्य करनेकी प्रेरणा यह विश्वास दिलाकर प्राप्त की जा सके कि स्थानीय शोषकोंकी पकड़ ढीली कर दी जायगी। देश एक एक कदम करके धीरे-धीरे नवीन औद्योगिक

राष्ट्रकी ओर बढ़ सके और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सके तथा जिसमें इस दिशामें अपनी स्वतंत्रता और सार्वभौमिकता स्थापित करनेका उत्साह हो।

थोड़े शब्दोंमें हम यों कह सकते हैं कि भारतके लखपतियोंकी भारी शक्तिका उपयोग इस प्रकारसे किया जाय, जिससे देशकी प्रगतिको रोकनेवाली आर्थिक व्यवस्थाकी बुराइयोंकी जड़पर कुठाराघात हो सके। किसानोंकी समस्याको प्राथमिकता देनी चाहिये, जिनका देशकी जनसंख्यामें बहुमत है। किसानोंको उत्पादन बढ़ानेके प्रयत्न करनेके लिये उत्साहित किया जा सकता है।

भूमिका इस प्रकार वितरण होनेसे नया उत्साह प्राप्त होगा और कृषिमें उन्नति होगी। खेतोंमें नवीन उपकरण और खाद प्रस्तुत करनेके लिये ऐसे उद्योगोंको प्रतिष्ठित करनेकी भी आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ वह बन सकें, क्यों कि इनके बिना निर्बल भूमिकी उत्पादन शक्ति नहीं बढ़ाई जा सकती। दूसरे शब्दोंमें, एक एकड़ भूमिमें पूर्वकालीन १० एकड़ भूमिके बराबर उपज होनी चाहिये, अन्यथा भूमि-सुधार निरर्थक है।

इसका अर्थ यह है कि भौमिक अर्थव्यवस्थाको बदलनेके लिये, जिन औद्योगिक प्रतिष्ठानोंकी आवश्यकता है, वह इस्पात, विद्युतशक्ति और उन अनेक साधनोंके बिना नहीं बढ़ सकते, जिन्हें या तो खोजना पड़ता या जिनका निर्माण करना पड़ता। उत्पादनसे अधिक उत्पादनकी प्रेरणा मिलती है और समानान्तर विकास सफलताका मूलमंत्र है। एक बार इस क्रियाके प्रारम्भ हो जाने पर यह अधिक उपयोगी बनती जाती है और फलस्वरूप जीवनकी अनेकांगी उन्नतिका कारण बन जाती है।

समाजवादी राज्योंका यही दृष्टिकोण होता है। समाजके अधिक धनवान व्यक्तियोंके संकीर्ण वर्गहितोंको योजनामें बाधा उपस्थित करनेसे रोका जाता है और पूँजी इस कारण सम्भव हो पाती है, क्योंकि उसे उत्पन्न करके उस पर कठोर नियंत्रण रखा जाता है। मूल्योंको बढ़नेसे रोका जाता है और लाभ उठानेवालोंको अपराधी समझा जाता है। प्रत्येक देशकी कुछ विशेष समस्यायें होती हैं, लेकिन भौतिक समस्यायें बहुत कुछ एक समान ही रहती हैं। योजना आयोगके निर्देशोंमें यही आशाएँ व्यक्त की गई थीं।

अब हम पंचवर्षीय योजनामें वर्तमान तत्वोंपर विचार करेंगे। वह कुछ और ही थे। दिसम्बर १९५२ में बनकर तैयार होनेवाली इस योजनामें १९५१ से १९५६ तकके पांच वर्षोंमें रु. २०६९ करोड़ लगानेका विचार था। इसकी एक अनुपूरक योजना अक्टूबर १९५३ में घोषित की गई, जिसम इसके अतिरिक्त रु. १५० करोड़ लगा दिए गये थे। और इस प्रकार कुल योग रु. २२४९ करोड़ था। अंतिम राशि रु. २३६५ करोड़ थी।

इसमें सबसे बड़ी मद परिवहन और यातायात की थी, जो युद्धकालमें बहुत घिस चुका था। कुल नियोजनका लगभग एक चौथाई भाग इस काममें आ गया। विद्युत् और सिंचाई की बहु-उद्देशी आयोजनाके लिये अनुमानित धन परिवहन अर्थात् रेलवेके लिये अनुमानित धनका आधा था। योजकोंने कृषिपर अधिक ध्यान देनेकी बात कही थी, लेकिन उस पर सीधी नियोजित राशि कुल व्ययकी १७·५ प्रतिशत थी, जब कि परिवहनके लिये २४ प्रतिशत लगाये गये थे। वास्तविकता यह है कि कृषि, सिंचाई और विद्युतका सम्मिलित व्यय परिवहनके व्ययसे कुछ ही अधिक था।

आवंटनकी स्थिति चाहे जो कुछ रही हो लेकिन यह स्पष्ट था कि योजकोंको भारतके अन्नकी कमीके बारेमें बहुत चिंता थी। इसम देशकी विदेशी मुद्रा प्रतिवर्ष बहुत व्यय हो जाती थी। वे इस स्थितिको समाप्त करनेके लिये दृढ़निश्चय थे और भारतको अपनी कृषिपर आश्रित देखना चाहते थे। यह विषय हमेशा विवादास्पद रहेगा कि क्या प्रथम पंचवर्षीय योजना कालमें भारत सरकार कृषिकी ओरसे ध्यान हटा सकती थी, यद्यपि उसका अर्थ होता पुरानी और परिचित नीतिको को जारी रखना? अन्नमें आत्मनिर्भरता एक लाभकारी उद्देश्य था और आगे चलकर हम देखेंगे कि बहुत विलंबित औद्योगिक कार्यक्रमोंको पूरा करनेके लिये उसने भारतकी कैसे सहायता की।

प्रथम योजनाके अतर्गत सार्वजनिक क्षेत्रमें उद्योगोंपर बहुत कम नियोजन हुआ था, अर्थात् कुल ७-६ प्रतिशत। योजकोंका घोषित उद्देश्य था, "जनसंख्यामें होनेवाली अतर्कालीन वृद्धिको देखते हुए उपभोक्ता सामानमें लगभग युद्ध पूर्वकी स्थिति प्राप्त कर लेना।" एक वाक्यमें योजनाका उद्देश्य यह था – कि सत्ता हस्तां-

तरणाके ६० वर्ष पश्चात भारत आर्थिक दृष्टिसे उस स्थितिको प्राप्त करना चाहता था, जिस स्थितिमें १५० वर्षके ब्रिटिश शासनके उपरांत वह पहुँचा था।

योजनाकी प्रतिक्रिया बड़ी अनुत्साहपूर्ण थी। किसीमें जोश नहीं था। काँग्रेस क्षेत्र तक इस विषयपर बातचीत करनेके लिये विशेष उत्सुक नहीं थे। परिवहन पर बल उन पुराने दिनोंका स्मरण दिलाता था, जब भारत साम्राज्यवादी उद्योगोंकी पूर्तिके लिये कच्चा सामान देनेवाला एक बड़ा भंडार था। योजकोंकी गणनामें औद्योगिक उन्नति तो शायद आई ही नहीं थी। और लोगोंको रोजी-रोजगार देनेकी आवश्यकता पर विचार नहीं किया गया।

वास्तवमें भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेसने अपनी पूर्वकालीन महत्वपूर्ण प्रतिज्ञाओंके साथ योजना बनाते समय विश्वासघात किया था। क्या नेहरूने ४ जून १९३९ को काँग्रेस पार्टीकी राष्ट्रीय योजना समिति, जिसके वे स्वयं अध्यक्ष थे, को भेजी जानेवाली अपनी एक टिप्पणीमें यह नहीं लिखा था, कि जिस प्रस्ताव द्वारा योजना समितिकी नियुक्त हुई है, उसमें हमसे यह अपेक्षा की गई है कि हम महत्वपूर्ण उद्योगों, मध्यम स्तरीय उद्योगों और कुटीर–उद्योगोंके विकासका प्रबंध करें। उसमें यह कहा गया है कि बिना औद्योगीकरणके देशकी आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं है। हमें औद्योगीकरणमें तीव्रता लानी है और यह बतलाना ह कि महत्वपूर्ण और मौलिक उद्योग कहाँ और कैसे आरम्भ किये जावें।" योजनाके इस सिद्धांत और नये दृष्टिकोणमें कितना अंतर है !

यह सच है कि भारतीय पूजीपतियोंके हितोंकी प्रधानता और उनकी ब्रिटेन तथा अमेरिकाके रोष-शमनकी इच्छाकी प्रतिछाया योजनामें थी। इस तर्क द्वारा सभी बातें समझमें नहीं आ सकतीं, क्यों कि १९४४-४५ में टाटा-बिड़ला आदि द्वारा जो योजना बनी थी उसका भी यही उद्देश्य था, लेकिन फिर भी उन्हें इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिए विवश होना पड़ा कि, "प्रारंभिक अवस्थामें ध्यान प्रमुख रूपसे बिजली और पूजीका निमाण करनेवाले उद्योगोंके गठनकी ओर केंद्रित करना चाहिए।" उन्होंने आगे कहा था, कि "अपनी आर्थिक योजना की सफलताके लिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि जिन आधारभूत उद्योगों

परदेशका संपूर्ण आर्थिक विकास आधारित है, उनको जितनी शीघ्रतासे बढ़ाया जा सकता हो, बढ़ाया जाय।"

टाटा-बिड़ला योजनामें भारतीय कृषि उत्पादनको दूनेसे अधिक करनेकी व्यवस्था थी। औद्योगिक उत्पादनको पँचगुना बढ़ाना था। १०,००० करोड़को १५ वर्षके अंदर उपव्यय करनेवाली इस टाटा-बिड़ला योजनामें लगभग आधी राशि उद्योगोंके लिये तथा १/७ कृषि और सिंचाईके हेतु व्यय करनेका सुझाव था। इसके विपरीत रु. २२४६ करोड़ पाँच वर्षोंमें व्यय करनेकी सरकारी योजनामें रु. १७६ करोड़ अर्थात् ७·६ प्रतिशत राशि उद्योगोंके लिये थी, जब कि रु. ६४० करोड़ कृषि तथा सिंचाई और बिजलीसे सम्बंधित बहु उद्देशीय आयोजनाओंके लिए रखे गये थे। इन आंकड़ोंमें परिवर्तन हुआ, लेकिन विभिन्न क्षेत्रोंमें अनुमानित राशिका अनुपात लगभग यही बना रहा।

स्पष्टतया दिल्लीमें बनी इस निराशापूर्ण योजनाको समझनेके लिये उन अन्य तत्वोंपर भी विचार आवश्यक है, जो देशकी आंतरिक नीतिपर भारी प्रभाव डाल रहे थे। यह तत्व क्या थे ? उन्हें केवल एक सर्वग्राही शीर्षक–शीत युद्ध– में रखा जा सकता है।

विश्वका दो परस्पर विरोधी दलोंमें विभाजन और १९५१ में उनके बीच एक प्रकारका खिंचाव ही था, जिसने अपनी आंतरिक प्रवृत्तियोंके संघर्ष द्वारा विभक्त और भुलावेमें पड़ी हुई काँग्रेस पार्टीके लिये अपने दृष्टिकोणके अनुरूप और भारतीय स्वतंत्रता संग्रामके आदर्शोंकी प्रतिपादक नीतिका पालन असंभव बना दिया।

परस्पर विरोधी दलोंकी शक्तिका अनुमान लगा कर काँग्रेस पार्टी यह निश्चय नहीं कर पा रही थी कि किस ओर झुकना चाहिए। समस्त संसारकी सामान्य समाजवादी प्रवृत्तिसे परिचित स्वयं नेहरूने भी 'ठहरो और देखो' दृष्टिकोण अपनाना ही अधिक उचित समझा। वे इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकते थे। क्योंकि सरदार पटेल और उनके साथियोंका काँग्रेस पार्टी–यंत्रपर नियंत्रण बहुत सुदृढ़ था। इसी कारण किसी ऐसी नीतिका अपनाना उनके लिये असम्भव हो रहा था, जिसका अर्थ भारत और आंतल–अमेरिकन दुनियाँके मार्गोंका अलगाव हो।

आगे हम देखेंगे कि प्रथम पंचवर्षीय योजना किस प्रकार आगे बढ़ी, उससे क्या प्रत्यक्ष लाभ हुए और किस प्रकार उसकी आलोचनाको ही काँग्रेस पार्टीने द्वितीय योजनामें विशेष रूपसे जवाहर नेहरूके प्रभावके कारण स्वीकार कर लिया। इस समय तो हमें उन प्रवृत्तियोंपर विचार करना है, जो प्रथम योजनाके पाँच वर्षोंमें प्रगट हुईं तथा जो एक या दूसरे रूपमें भारतके अनेक निर्णयात्मक परिवर्तनोंका रूप निर्धारित करनेवाली थीं।

नई प्रवृत्तियाँ

राजासे जनमनकी शक्ति उसी प्रकार अधिक है, जिस प्रकार अनेक तंतुओंसे निर्मित रस्सी सिंह तकको घसीटनेके लिये शक्तिपूर्ण होती है। ......

(नीति सार)

१९४७ से १९४९ तक कॉंग्रेस पार्टी द्वारा निर्धारित गृह–नीतिमें स्पष्टताकी कमी ने इस आंदोलनके अनेक अशांत तत्वोंको निराश कर दिया। ज्यों ही प्रथम योजनाकी रूपरेखाका पता चला यह संघर्ष खुले रूपमें होने लगा।

केरल कॉंग्रेस केबिनेटमें फूट पड़ गई थी। थोड़े ही दिनों पश्चात पार्टीके आंध्र दलकी दो शक्तिशाली विभूतियों– टी. प्रकाशम् और एन० जी० रंगा ने, प्रजापार्टी बनानेके लिये कॉंग्रेस छोड़ दी। इसके उपरांत एक अन्य हस्ती, जे० बी० कृपलानीका त्यागपत्र सामने आया। और योजनाके प्रकाशित होनेके साथ ही साथ राजनीतिक रूपमें नेहरूके निकटतम साथी, रफी अहमद किदवईने संचार मंत्री पदसे अपने त्यागपत्रकी स्वीकृतिके लिये जोर डालनेका निश्चय कर लिया। कॉंग्रेसके इस संकटका प्रभाव दूसरे क्षेत्रोंमें भी पड़ा, यहाँ तक कि उत्तर प्रदेशके समान कॉंग्रेसी गढ़में भी इसी प्रकारसे सम्बंध विच्छेद हुए।

यह ठीक है कि कॉंग्रेसमें होनेवाले इस विभाजनकी सभी शक्तियाँ एक ही प्रकारकी नहीं थी। उनमें कुछ स्वार्थी और बहुत संकुचित हितोंपर आधारित थीं। कुछ कॉंग्रेस नीतिके साधारण वाम पक्षीय झुकावसे प्रेरित थीं। लेकिन इस विद्रोहको मुख्य शक्ति किदवईके त्यागपत्रके निर्णयसे प्राप्त हुई, जो वास्तवमें साधारण उन्मूलकवादीसे भी दो कदम आगे थे। कॉंग्रेस ढाँचेमें सुधार करनेके सबसे बड़े समर्थक वही थे।

व्यक्तित्वोंके इस संघर्षको 'परिवारके भीतरी झगड़े" के रूपमें कह कर टालना परंपरागत था। और इसमें कोई संदेह नहीं कि तथाकथित पृथक होने-वालोंके तर्कोंके अनुसार यह परिवारके झगड़ेकी तरह ही दीखते थे, जो साधारण

चुनावोंके कारण सामने प्रगट हुए थे। लेकिन इस वास्तविकताको भुला दिया गया था कि पृथक्करण उस पार्टीमें नहीं होता है, जो समस्याओंको आत्मविश्वासके साथ सुलझाती और अपना पक्ष दृढ़ करती हो। व्यक्तित्व और दलबंदी केवल संकटके समय ही अपना काम कर पाते हैं।

लेकिन इस अत्यंत महत्वपूर्ण तत्वपर भी इस समय ध्यान नहीं दिया गया कि इस विद्रोही या अलग होनेवाले व्यक्तियोंने राष्ट्रीय नीतिके प्रश्नोंको नहीं वरन प्रमुख रूपसे स्थानीय विषयोंको ही अपने विरोधका आधार बनाया था। वह उन्मूलन-वादियोंकी बोलीमें बोलते थे और काँग्रेस-सरकारका सीमित विरोध करनेके लिये वामपंथियों तकसे मिल गये। उन्होंने काँग्रेसी–यंत्रका नियंत्रण करनेवालोंके साथ अपने भारी मतभेदको भी छिपानेका प्रयत्न नहीं किया, जिन्होंने प्रतिक्रियावादी पुरुषोत्तमदास टंडनको संस्थाका सभापति बनानेमें मदद दी थी।

यह विद्रोह काँग्रेसके अनुभवी उन्मूलकवादियोंकी ओरसे हुआ था, यद्यपि जिन लोगोंने उनका साथ दिया उनमें अनेक अवसरवादी थे, जो देशमें व्याप्त असंतोषका लाभ उठाना चाहते थे। साधारण शब्दोंमें ये विद्रोही, देशके अनेक भाषा-भाषी दलोंपर आधारित मध्यम-वर्गीय पूँजीजीवियोंके संघर्षका प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो इस बारेमें बहुत उत्तेजित थे कि उनके हितोंका बलिदान सारे भारतमें अपनी कोठियाँ रखनेवाले बड़े व्यवसाइयोंके एकाधिकारके सामने किया जा रहा है। लेकिन इसके बारेमें आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काँग्रेस पार्टीकी यात्रा आरामसे नहीं हो रहीं थी। देशमें असंतोष व्याप्त था और वह निरंतर उससे छुटकारा पानेका मार्ग खोज रहा था।

दक्षिण और वामपंथी विचारक निरंतर हठ पूर्वक इन परिवर्तनोंको संकीर्ण और क्षुद्र झगड़े ही समझते रहे। यह बालोचित विश्लेषण था, क्योंकि देशका झुकाव समाजवादी पार्टीके सदस्योंको भी प्रभावित कर रहा था। ६ अप्रैल १९५१ को बहुमतसे बम्बई-राज्य-समाजवादी पार्टीकी कार्यकारिणी समितिने अपने २६ प्रमुख और सक्रिय सदस्योंको पार्टीके हितोंके विरुद्ध कार्य करने तथा "जानबूझकर उदंडतापूर्वक उसके कार्यमें बाधा डालनेके कारण" बम्बई और महाराष्ट्रमें निष्कासित करनेका निर्णय किया।

यह निष्कासित समाजवादी श्रीमती अरुणा आसफअलीके साथ बादमें साम्यवादी पार्टीमें सम्मिलित हो गये। ये लोग जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित अस्पष्ट और निरर्थक नीतियोंका पालन नहीं कर सके थे। काँग्रेसकी तरह यहाँ भी यह विद्रोह प्रांतीय स्वरूपमें महाराष्ट्रमें विकसित हुआ, जहाँ काँग्रेस पार्टीने भी पहले इसी प्रकारकी भारी फूटका सामना किया था और परिणामस्वरूप यूरोपियन कम्यूनिस्ट पार्टीसे सम्बंधित "कमिन फार्मके प्रति स्वामिभक्ति" प्रदर्शित करनेवाली किसान मजदूर पार्टीकी रचना हुई थी।

अनेक प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विचारकोंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि काँग्रेसियोंमें ही इस प्रकारके एक विरोधी दलका विकसित होना देशके लिये अच्छा था। उनका मुख्य तर्क यह था कि यह दल 'सेफ्टी वाल्व' की तरह कार्य करेंगे और अशांत विद्रोही तत्वोंको साम्यवादी दलमें प्रवेश करनेसे रोकेंगे। घनश्याम दास बिड़लाके पत्र 'ईस्टर्न इकोनोमिस्ट'के स्तंभोंमें यह विचारधारा बहुत पनपी। बड़े-बड़े व्यापारियोंके लिये काँग्रेस दलमें इस प्रकारकी सफाईसे अच्छी और क्या बात हो सकती थी अर्थात् उन्मूलकवादियोंका निष्कासन जिससे 'सेफ्टी वाल्व' के निर्माणमें सहायता मिलती लेकिन यह स्वप्न शीघ्र ही भंग होनेवाले थे।

पुनः साहसी नेहरूने इस परिस्थितिकी रक्षाके लिये अपना एकांतिक प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। उन्होंने तत्काल ही यह अनुभव कर लिया कि उन्हें अपने देशवासियोंको यह बतलाना आवश्यक है कि पंचवार्षिक योजनाके बावजूद भी वे ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य-अमेरिकाके विदेशी विभागके इशारेपर नाचनेवाली कोई कठपुतली नहीं हैं।

उन्होंने केवल उसी विषयको पकड़ा जिस पर समस्त भारत एकमत था अर्थात् साम्राज्यवादी देशोंके कीमती और भयंकर युद्ध अभियानोंसे अपने देशको पृथक रखना। यह ऐसी कार्यप्रणाली थी जिसका टाटा–बिड़लाके हामियोंके साथ-साथ पार्टीके परिवर्तन-विरोधी तत्वोंको भी समर्थन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस कदमसे पार्टीके विद्रोहियोंमें भी किसी सीमा तक यह विश्वास उत्पन्न होना निश्चित था कि मामला इतना बुरा नहीं है जितना वे समझते थे।

देशने एक ऐसी आश्चर्यजनक विशेषताका दर्शन किया, जिसे सौभाग्यसे कभी ठीक प्रकार समझा ही न जा सका। जहाँ एक ओर विरोधी दल घरेलू आर्थिक समस्याओंके प्रति जनताका समर्थन प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे थे, नेहरूने देशके दौरा करके केवल युद्धके भयंकर संकट और शांतिकी रक्षाके लिये भारतके प्रयत्नोंका संदेश प्रसारित किया। जहाँ कहीं वे गये, उन्होंने बहुत भारी भीड़को आकर्षित किया। जनताने बैठकर विदेशी समस्या, शांतिके अर्थ और परमाणु बमके जीव-जगतपर प्रभाव आदि विषयों पर उनके भाषण सुने। विदेशी नीतिमें आपाद मस्तक डूबे प्रधान मंत्रीके लिये विरोधियोंने एक मजाक ही प्रस्तुत किया, क्यों कि वास्तविकता यह थी कि देश गर्वके साथ उनके रोलकी सराहना कर रहा था।

संयुक्त-राज्यीय युद्धनीतिकी भूलों और संसारमें व्याप्त शांति भावनाओंने अंतर्राष्ट्रीय अखाड़ेमें नेहरूके प्रयत्नोंका नाटकीय प्रभाव डाला। कोरिया युद्धके विषयमें भारतकी समस्त चेतावनीकी ओर युद्ध-प्रिय जनरल मक आर्थर द्वारा ३८ वीं अक्षांशसे आगे बढ़ने तथा उनके साम्यवादी चीनको झुका देनेके घोषित उद्देश्यके कारण विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिकाके आश्रित सहयोगियोंके लिये यह घोषणा बहुत अप्रिय प्रमाणित हुई। शीघ्रतापूर्वक ट्रूमेनने मेक आर्थरको सुदूर पूर्वी कमांडसे ११ अप्रैलको पदमुक्त कर दिया था। उसके उपरांत घटना-चक्र तेजीसे घूमा, जिसका अंत कोरियाकी युद्ध-बंदीमें हुआ।

लेकिन एशियामें अपनी इज्जत बचानेके लिये चिंतित अमेरिकाने तथाकथित मौखिक शांतिवार्ता प्रारम्भ कर दी। उनका उद्देश्य एक इज्जतदार शांति कायम करना नहीं था, बल्कि वे जापानको जन-चीनसे युद्ध करनेके लिये उसी प्रकारका एक शस्त्रागार बनाना चाहते थे, जैसा यूरोपमें सोवियट संघसे युद्ध करनेके लिये पश्चिमी जर्मनीको बनाया जा रहा था।

भारतने इस प्रकारकी शांति-संधिका भागीदार बनना अस्वीकार कर दिया, जिससे अमेरिकाको अपना औपचारिक नियंत्रण हटानेके उपरांत भी जापानमें तथा उसके आस-पास जल, स्थल और वायुसेना रखनेका अधिकार बना रहता था। साम्राज्यवादी

नीतिके विरुद्ध यह एक भारी प्रचारात्मक चोट थी, क्योंकि भारत, सोवियत संघ जन चीन और अन्य समाजवादी देशोंके साथ मिलकर संसारकी जनसंख्याके भारी बहुमतका निर्माण करता था। अनेक स्वतंत्र और ईमानदार व्यक्तियोंने यह माँग प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया था कि "हमें संसारकी समस्याओंको निबटानेके लिये प्रजातंत्र चाहिये।"

कंटकपूर्ण काश्मीर समस्यापर भी दिल्लीने अधिक स्वतंत्रता व्यक्त करनी आरम्भ कर दी। मईमें राष्ट्रसंघीय सुरक्षा परिषदके प्रस्तावको अस्वीकृत किया जा चुका था, पर संयुक्त राज्यसे प्रभावित इस संस्था द्वारा इस समस्याके निराकरणका प्रयत्न जारी रहा। जुलाईमें फ्रैंक ग्राहम पुनः 'मध्यस्थता' के लिये आये। लेकिन अक्तूबरके अंत तक काश्मीर विधान-निर्मात्री–परिषद्की रचनासे समस्याके समाधानके लिये साम्राज्यवादका आसरा ताकनेकी नीतिमें एक निर्णयात्मक विक्षेप उपस्थित हुआ, वही नीति जिसके अनुसार पाकिस्तानका साम्राज्यवादियों द्वारा पक्षग्रहण करनेके डरसे उनसे समझौता करनेके दृष्टिकोणको उत्साह प्राप्त होता था।

उसी समय ६ अक्टूबर १९५१ को वह सूचना प्राप्त हुई, जो वर्तमान शक्ति संतुलनको बलपूर्वक बदलनेवाली थी। स्टालिनने घोषणा की थी कि सोवियत संघने अणुबमका स्फोट किया है और वह अन्य अणु परीक्षण करेगा। सुदूर अमेरिकामें स्थित सिसमोग्राफोंने इस विस्फोटका अंकन किया था, जिसका अर्थ यह अंकित करना था कि अणुबम पर अब साम्राज्यवादियोंका एकाधिकार नहीं रहा।

पश्चिमके अनुकूलित जनमतपर इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। अब ब्रिटिश और अमेरिकन नगर भी अणुशक्ति द्वारा नेस्तनाबूद होनेके भयसे मुक्त न थे। संयुक्तराज्यकी समस्त रणनीति और संकटकालीन योजनाकी आधारशिला अणु-अस्त्रोंका एकाधिकार ही तो थी।

युद्धपंडितोंके सामने एक भारी दुविधा उपस्थित हो गई। पूँजीवादी दुनियाँकी प्रत्येक राजधानीमें एकाधिपति और उनके राजनीतिक दल आश्चर्यचकित थे कि अब समाजवादी संसारके पास इस प्रकारके बम होनेका क्या परिणाम होनेवाला है। भारतमें काँग्रेसके परिवर्तन-विरोधी सदस्य जो सदैव सर्वाधिक शक्तिशाली

और अजेय संयुक्तराज्य अमेरिकाके साथ मित्रता करनेकी बात सोचा करते थे, अब कुछ अन्य बातें भी सोचने लगे।

नेहरूने काँग्रेस यंत्रका नियंत्रण करनेवाले पुरुषोत्तमदास टंडन और उनके अन्य साथियोंके पेच कस ही दिये थे। अगस्तमें उन्होंने और अब्दुलकलाम आजादने पार्टीकी कार्यकारणी समितिसे त्यागपत्र दे दिया, जिससे दक्षिणपंथी परिवर्तन विरोधी दलवाले ढीले पड़ गये, क्यों कि वे जानते थे कि अगर लोगोंको यह अनुभव हो गया कि नेहरू सरीखे जनप्रिय नेता पार्टीकी कार्यप्रणालीसे असंतुष्ट हैं, तो चुनावोंमें काँग्रेस नहीं जीत सकती।

यह भी अफवाहें फैली हुई थीं कि प्रधानमंत्री अपने पदसे भी त्यागपत्र देनेकी बातपर विचार कर रहे हैं। एक अन्य पार्टीके रचे जानेकी भारी सम्भवना थी। ऐसे वातावरणमें प्रतिक्रियावादियोंने पीछे हटनेका निर्णय किया। टंडनने त्यागपत्र दे दिया। नेहरूने काँग्रेस पार्टीकी बागडोर संभाल ली। अक्टूबरके आरम्भ तक किदवई भी केन्द्रीय मंत्रिमंडलमें आ गये।

भारतीय जीवनके महत्वपूर्ण समयमें संस्थाके रूपमें हमेशाकी तरह असंगठित नेहरू दल आणविक शक्तिसंतुलनके इस परिवर्तनके कारण अधिक शक्तिशाली हो गया। सारे देशमें प्रथम सामान्य निर्वाचनकी तैयारी होने लगी।

इतिहासमें प्रथम वार सन १९५२ में संपूर्ण जनसंख्याके लगभग आधे अर्थात् १८ करोड़ वयस्क, केन्द्रीय और राज्यीय विधान परिषदोंके ४००० से अधिक प्रतिनिधियोंको निर्वाचित करनेके लिये मत देनेवाले थे। ७५ पार्टियों और दलोंसे सम्बंधित लगभग १७००० सदस्य निर्वाचित होनेके लिये मतदाताओंका समर्थन प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील थे, जिनकी संख्या उस समय संसारमें सबसे अधिक थी।

इस विभागकी कल्पना कीजिये। लगभग २२,४००० निर्वाचनस्थलोंके निरीक्षणके लिये ५,६०,००० कर्मचारियोंको लगाया गया था। जहाँ तक मत पेटिकाओंका सम्बंध है, उनकी संख्या २५,८४,००० थी। भारतमें इस प्रबंधका अनुमानित व्यय १० करोड़ रुपये था।

नई प्रवृत्तियाँ

विदेशोंके प्रतिक्रियावादी लेखकोंको, जो इस भ्रममें ही पनपे थे कि केवल आंग्ल सेक्सन ही अपने मताधिकारका प्रयोग करना जानते हैं, इस अभूतपूर्व घटनाकी ओर ध्यान देनेके लिए विवश होना पड़ा। कुछ लोगोंने तो अपना यह कपोल-कल्पित दृष्टिकोण बना लिया था कि भारतके अशिक्षित देशवासी किसी प्रकार काँग्रेसके पक्षमें ही यह सोचकर अपना मत देंगे कि वह गांधीजीका समर्थन कर रहे हैं, यद्यपि वह मर चुके थे। ऐसी कल्पनाएँ पश्चिमी मस्तिष्ककी विशेषता हैं, क्योंकि अपने पूर्वकालीन उपनिवेश-वासियोंके विचारों और कार्योंमें होनेवाले परिवर्तनसे वे अब तक अपना समझौता नहीं कर सके थे।

निर्वाचनमें निष्पक्षताकी प्रतीतके लिये भारी तैयारी की गई थी। यह सही है कि गैर काँग्रेसियोंको अनेक रुकावटें उठानी पड़ी थीं। वे अकस्मात ऐसा संगठन नहीं बना सकते थे जो उनके अधिकाराकी रक्षा प्रत्येक निर्वाचन केन्द्र पर कर सके। उनके पास न धन था, न समाचार-पत्र थे और न सत्ताधारी पार्टीका वित्तीय सहारा ही था। प्रचारकार्यके लिये वे सरकारी सुविधाका भी उपयोग नहीं कर सकते थे।

अपने भूमिगत कार्यकलापोंकी दुर्भाग्यपूर्ण अवधि समाप्त करके साम्यवादी पार्टी प्रगट ही हो रही थी। बी. टी. रणदिवेकी दुस्साहसिक और संकुचित नीतियोंने भारतीय साम्यवादी पार्टीके संगठनका प्रभाव किसान मजदूरोंके सुदृढ़ क्षेत्रोंमें भी कम कर दिया था। जब पी. सी. जोशी जनरल सेक्रेटरी थे, तब सक्रिय सदस्योंकी संख्या १,००,००० थी, जो अब घटकर २०,००० से भी कम रह गई थी। पार्टीने एक नये कार्यक्रमकी घोषणा की थी, जो हालांकि बदलनेवाली परिस्थितियोंके विपरीत था, फिर भी अपने निराश कार्यकर्त्ताओंको किसी सीमा तक संगठित करनेमें सफल हुआ। लेकिन राजनैतिक चित्रमें काँग्रेसकी निश्चित विजयका दृश्य दीखने लगा था।

आकारहीन बेढंगी आकृतिवाली काँग्रेस पार्टीके अंदर आगामी चुनाओंमें उम्मीदवारोंके रूपमें मनोनीत होनेके लिये अभूतपूर्व होड़ लगी हुई थी। परिवर्तन विरोधी दक्षिण पंथियोंका उद्देश्य अपने समर्थकोंके लिए प्रभावशाली संख्यामें टिकट

प्राप्त करना था। इस विषयमें वे यथेष्ट सफल हुए, क्योंकि पार्टी-यंत्रपर अब भी उनका नियंत्रण था और कोई चुनाव संगठन शक्तिके अभावमें नहीं लड़ा जा सकता।

उन्मूलकवादियोंने देखा कि चुनाव टिकटके लिये उनके संघर्षका नेहरूजी समर्थन इस आधारपर नहीं कर रहे हैं कि इस युक्तिसे केवल फूट ही अधिक बढ़ेगी जब कि पार्टीको इस समय एकताकी भारी आवश्यकता थी। कई कारणोंसे जिन अनेक व्यक्तियोंको सदस्यता प्राप्त नहीं हुई, उन्होंने अपने आपको स्वतंत्ररूपमें खड़ा किया। उन्हें यह आशा थी कि स्पष्ट आर्थिक नीतिके अभावके फलस्वरूप देशमें फैले हुए असंतोषका वह लाभ उठा सकते हैं।

निर्वाचनमें यह 'स्वतंत्र' एक बड़े प्रश्नवाचक चिन्ह थे। असंतुष्ट कॉंग्रेसी, छिपे हुए संप्रदायवादी और अव्यस्थित उन्मूलकवादी स्वतंत्र सदस्योंके रूपमें खड़े होकर विरोधी दलोंकी व्यवस्थित पार्टियोंके साथ स्थानीय समझौता स्थापित करनेमें संलग्न थे। यह स्पष्ट दीख रहा था कि वे कॉंग्रेस पार्टीके समर्थकोंको विभाजित कर देंगे। लेकिन इससे भी अधिक भयंकर एक अन्य छापके तथाकथित स्वतंत्रोंकी अर्थात् राजाओंके समूहकी चालें थीं, जिन्होंने जमींदारी समाप्तिकी बढ़ती हुई माँगके विरोधमें सामंती हितोंकी रक्षाके लिये अपनी पार्टियाँ बना ली थीं। हमेशाकी तरह संगठित हिन्दू संप्रदायवादकी महासभा, जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ नामक त्रिमूर्तिकी शक्तिके साथ उन्हें बहुत समानता दिखलाई दी।

इन तथाकथित कुलीन सज्जनोंमेंसे कुछ ने चुनावके समय लुटेरोंका संगठन यह भ्रम उत्पन्न करनेके लिये किया कि नरेशोंके पुराने राज्योंके नष्ट होनेके कारण उनके राज्योंमें अराजकता फैली हुई है और वहाँके लोग पुराने वंशक्रमानुगत शासकोंके स्वागतके लिये आतुर हैं। गाँववालोंके विरुद्ध डाकाजनीमें उन्होंने सहयोग दिया, सहायता दी और यदाकदा उसमें भाग भी लिया। और फिर आदरणीय व्यक्तिके रूपमें प्रगट होकर इस अव्यवस्थाकी रोक न कर पानेके लिये कॉंग्रेसी प्रशासनकी भर्त्सना करते थे। सौराष्ट्रमें भूपतके विरुद्ध अभियानने जिसके फलस्वरूप अनेक छोटे-मोटे राजाओंको बंदी बनाया गया था, सामंतवादियोंके

स्वप्नको भंगकर दिया, लेकिन यह उस समय तक न हो सका, जब तक चुनावोंमें इन चालोंसे अनेक सदस्य निर्वाचित करवानेमें वे सफल न हो गये।

कॉंग्रेसकी फूटसे परिचित वामपंथियोंने संयुक्त मोर्चा बनानेका प्रयत्न किया, जिससे उनकी बिखरी हुई शक्ति संगठित हो जाय। यह प्रयत्न विशेषरूपमें हैदराबाद और ट्रावनकोर-कोचीनमें सफल हुए, लेकिन अन्य भागोंमें वह इतने अव्यवस्थित और असैद्धांतिक थे कि कोई वास्तविक निर्णयात्मक रोल न खेल सके, इसके अतिरिक्त संगठनकी दृष्टिसे वामपंथी इतने शक्तिशाली नहीं थे, कि वे अखिल भारतीय स्तरपर कॉंग्रेसका मुकाबला कर सकते। कम्यूनिस्ट पार्टीने अपना आक्रमण उन्हीं क्षेत्रोंमें केंद्रित रखा जहाँपर महत्वपूर्ण संघर्ष हुए थे और जहाँ अधिक तैयारी और हलचलके बिना ही जनताका समर्थ प्राप्त करनेकी आशा थी। केवल कॉंग्रेस ही इस मैदानमें ऐसी पार्टी थी, जिसने ४००० विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रोंमें प्रत्येक स्थानके लिए चुनाव लड़ा।

जनताके मत प्राप्त करनेकी इस समूची प्रतिद्वंदितामें एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि प्रमुख राजनैतिक पार्टियोंके कार्यक्रमोंमें बहुत कुछ समानता थी। वह सब एक कल्याणकारी राज्यकी आवश्यकताको स्वीकार करते थे, जिसका अर्थ पूँजी-पतियोंपर नियंत्रण था। यह सच है कि वामपंथियोने समाजवादकी बात की थी और हिन्दू महासभाने यह घोषणा की थी कि वह वर्गहीन समाजकी सम्भावनापर विश्वास नहीं करती है, लेकिन जनताके उन्मूलक दृष्टिकोणको बहुत मान्यता दी जाती थी। भूमिके निर्णायक प्रश्नपर जमींदारीका विरोध किया जाता था और महासभा केवल यही कह पाती थी कि यदि इन अधिकारोंको प्राप्त करना 'नितांत आवश्यक' हो जाता है तो पर्याप्त क्षति-पूर्ति करनी चाहिये। सभी दल प्रमुख और मौलिक उद्योगोंके राष्ट्रीयकरणके सम्बंधमें सहमत थे, यद्यपि प्रमुख और मौलिक शब्दोंकी व्याख्यामें यथेष्ट अंतर हो सकता था और भाषिक प्रांतोंके निर्माणका विरोध करनेका कोई भी दल साहस न कर सकता था।

राजनीतिमें अंतरोंको बढ़ाचढ़ाकर बतलाना परंपरागत है, लेकिन भारतमें कोई निष्पक्ष दर्शक विभिन्न प्रवृत्तियोंमें समानताके तत्व न ढूँढ़नेकी भूल नहीं कर सकता

है। कुछ लोग कहेंगे कि भारतके शताब्दियोंके इतिहासकी यह विशेषता है। इस धारणाका कारण चाहे जो कुछ हो, लेकिन कोई भी व्यक्ति इस तत्वकी उपेक्षा नहीं कर सकता कि विशेषतया आधुनिक कालमें अनेकों हितोंके प्रतिपादक और विचार धारा वाले राजनैतिक दल आवश्यकतासे अधिक, संयुक्त संग्रामके लिये न्यूनतम कार्यक्रमोंकी आवश्यकता पर जोर देते हैं। साधारण चुनावोंका संपूर्ण विष भी इस वास्तविकताको नहीं छिपा सकता था।

चुनाव आरम्भ हुए। इसके लिये इतने विशाल संगठनकी आवश्यकता थी कि मतदानको अनेकों सप्ताहोंमें फलाना पड़ा। अशिक्षित व्यक्तियोंके शांत और अनुशासित ढंगपर मतदानको देखकर संसार आश्चर्यचकित रह गया। लगभग १० करोड़ ४० लाख अर्थात् ६० प्रतिशत निर्वाचकोंने अपने इस महान अधिकारका प्रयोग किया।

यह आश्चर्य उस समय और भी बढ़ गया, जब यह पता चला कि यद्यपि २२ मेंसे १८ राज्योंमें काँग्रेस भारी बहुमतसे जीती है लेकिन उन्हें लगभग ४२ प्रतिशत से कुछ कम मत ही प्राप्त हो सके हैं। अस्तव्यस्त साम्यवादी पार्टीने अपनी भूमिगत कार्यवाहियोंके उपरांत एक सीमित क्षेत्रमें संघर्ष करनेके बावजूद भी विरोधी दलका नेतृत्व प्राप्त कर लिया है। हिन्दू सम्प्रदायवाद उन स्थानोंमें भी बुरी तरह हार गया जो दंगे और लूटके केन्द्रस्थान रहे थे और गंगा-जमुनी समाजवादी, जिन्होंने यद्यपि १ करोड़ १० लाखसे अधिक मत प्राप्त किये थे, वास्तवमें पराजित हुए; क्योंकि संसद तथा विधान सभाओंमें उनका विरोध कम और प्रभावहीन था।

यह परिणाम निरक्षर व्यक्तियोंकी प्रौढ़ताके द्योतक थे, जिन्होंने मतदानमें, अधिक विज्ञापित, सदैव अपने सुनिश्चित मार्गोंपर ही चलनेवाले यूरोपियनोंसे भी, अधिक समझदारी दिखलाई थी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि वयस्क मताधिकारका एक बार स्वाद चखनेके उपरांत चाहे शासकवर्गके कुछ तत्व यह सोच लें कि प्रजातंत्र यहाँ सुरक्षित नहीं है, पर भारतीयोंको इस अधिकारसे वंचित होनेके लिये तैयार होनेकी संभवना नहीं थी।

नई प्रवृत्तियाँ

नेहरूको यह समझते देर न लगी कि काँग्रेस पार्टीसे क्या अपेक्षा की जाती है। अब काँग्रेस अपनी पुरानी सेवाओं और परंपराओंका भरोसा नहीं कर सकती थी। उसे अपनी प्रतिदिनकी नीतियोंके द्वारा ही समर्थन प्राप्त करना पड़ेगा। यह बात कैसे पूरी की जाय, यह एक बड़ी समस्या थी। लेकिन उन काँग्रेसी सदस्योंको जिन्होंने चुनावमें भाग लिया था, एक परिपत्र भेजते हुए नेहरूने आदेश दिया कि सुनिश्चित आर्थिक कार्यक्रमके आधारपर एक सुदृढ़ राजनैतिक पार्टीके रूपमें काम करनेकी आवश्यकता है।

जुलाई तक उत्तर प्रदेशमें जमींदारी समाप्त हो चुकी थी। अक्तूबर तक सामुदायिक परियोजना प्रशासन ग्रामीण भारतको उनके भविष्यकालकी ओर उन्मुख करनेके लिये जारी कर दी गयी थी। औद्योगिक कामगारोंकी एक महत्वपूर्ण सामाजिक सुरक्षा परियोजना अर्थात् निर्वाह-निधिके लिये उनसे पैसा कटना आरम्भ हो गया। दिसम्बर तक रु० २०६९ करोड़की प्रथम पंचवर्षीय योजना नई संसदके सामने स्वीकृति प्राप्त करनेके लिये प्रस्तुत हो चुकी थी।

सचमुच एक कठिन समस्याके सुलझानेके लिये यह प्रयत्न बहुत कम थे, लेकिन काँग्रेसके आर्थिक दृष्टिकोणमें नई अविलंबिता आ रही थी, जो समय बीतनेके साथसाथ बढ़कर परिणामस्वरूप सत्तारूढ़ पार्टीके अंदर दलोंकी फूट बढ़ानेवाली थी।

अन्नकी उपलब्धि कम थी। रोजगार मुश्किलसे मिलते थे। फिर भी लोगोंने मत देकर पार्टीको पुनः सत्तारूढ़ कर दिया था, चाहे उनकी वास्तविक शक्ति भले ही कम हो गई हो। यदि महत्वपूर्ण समस्याओंकी ओर अब भी ध्यान न दिया गया तो अगला निर्वाचन काँग्रसकी हार देख सकता था। प्रथम, वास्तविक स्वतंत्र, अखिल भारतीय सरकारकी नीतिमें इन्हीं विचारोंकी प्रधानता थी।

अंतर्राष्ट्रीय रूपमें भी भारतने एक अधिक दृढ़ विदेशी नीति अपनाई। दुविधाके क्षण अब पहलेकी तरह इतने अधिक उपस्थित नहीं होते थे। सामान्य निर्वाचन होने तक बार बार इस बात पर बल दिया जाता था कि भारत तटस्थ ही नहीं वरन सक्रिय तटस्थ है। काँग्रेस चुनाव घोषणा-पत्रमें इस सक्रिय तटस्थताका स्पष्टीकरण 'स्वतंत्र' किया गया। विदेशनीतिका यह रूप उस समय सामने आया जब कि

संसार-वासियोंके सामने संयुक्त राज्य अमेरिकाकी युद्ध-तैयारियाँ अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही थीं।

अफ्रीकामें भी विस्फोटक स्थिति बढ़ रही थी। मिश्र, ईरान, मध्यपूर्व और भूमध्य सागरके तटवर्ती देश उत्तेजित हो रहे थे। २७ मई १९५२ के दिन यूरोपमें नाटोके ६ विदेश मंत्रियोंने एक यूरोपीय सेनाकी स्थापना करनेके लिये एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिये।

संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा जापानको पुनः सशस्त्र करने और उसे युद्धसामग्री, युद्धपोत और वायुयान निर्माणकी आज्ञा देनेके कारण एशियामें भी तनाव था। कोरिया प्रश्नको पृष्ठभूमिमें पहुँचानेके उपरांत अमेरिकन विश्व रणनीतिने युद्धकी आग सुलगानेके लिये हिन्द-चीनको चुन लिया था।

साम्राज्यवादकी इन चालोंकी स्पष्ट विवेचन नेहरूने १२ जूनको की थी जब उन्होंने उत्तरी, अतलांतिक संधि संगठन और संयुक्त राष्ट्रकी एशिया और अफ्रीकामें वर्तमान उपनिवेशवादकी रक्षाके लिये पथभ्रष्ट संस्थाओंके रूपमें परिवर्तित होनेकी प्रवृत्तिके प्रति भारत सरकारकी चिंता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि अपने निश्चित पथको छोड़कर धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूपमें उपनिवेशवादके रक्षक बननेकी ओर संयुक्त राष्ट्रसंघका झुकाव भयंकर है। साथ ही साथ शांतिकी एक महान संस्था समझनेके स्थानपर, उसके कुछ सदस्य उसे युद्ध आरंभ करनेवाले संगठनके रूपमें अधिकाधिक देखने लगे हैं।”

संसद्में व्यक्त करनेके लिए यह दृष्टिकोण बहुत शक्तिपूर्ण था, क्योंकि इसमें भारतको तथाकथित साम्यवादविरोधी अभियानके विरुद्ध करके अफ्रीकामें होनेवाले मुक्तिआंदोलनोंका मित्र बना दिया।

मिश्रके सुल्तान फारुकने गद्दी छोड़ दी थी और नगीव नसीरके नेतृत्वमें सेनाका देशपर नियंत्रण था। फ्रांस अधिकृत ट्यूनीशियामें लगभग घेराबंदीकी स्थिति हो गई थी और अल्जीरियामें भी मुठभेड़ोंके समाचार मिले थे। ब्रिटिश अधिकृत कनियामें स्वतंत्रता आंदोलनका हिंसापूर्ण संघर्ष वहाँके श्वेत प्रवासियोंसे होने लगा था। दक्षिण अफ्रीकाकी रंगभेद-नीतिने जो अब बहुत जोरों पर थी उस “अंद्ध महादीप’ के सभी स्थानोंपर सम्बंधोंमें तनाव पैदा कर दिया था।

ऐसी स्थितिमें भारत निरपेक्ष दर्शकके समान बैठकर यह सब नहीं देख सकता था क्योंकि इस अफ्रीकन असंतोषसे केवल अनेक भारतीय जातियाँ ही सम्बधित नहीं थीं, वरन् विश्व समस्याओंमें भारतकी शक्ति भी इस बात पर आश्रित थी कि यह इसराइल और तेल नीतिसे संतप्त अफ्रीका और अरब संसारका कितना समर्थन प्राप्त कर सकते हैं।

अफ्रीका और मध्यपूर्वकी समस्याओंका विरोध करनेका अर्थ भारतको साम्राज्यवाद और विशेष रूपसे ब्रिटेनके साथ सीधे संघर्षमें लाना था। दिल्लीका शासकीयक्षेत्र इस बातको अच्छी तरह समझता था, लेकिन घटनाचक्रने भारतको इसमें फँसनेके लिये विवश कर दिया।

तथापि ध्यान देनेकी बात यह है कि इस कार्यकी आलोचना करते समय इस क्षेत्रमें ब्रिटेनके दखल देनेवाली बातकी ओरसे अस्थायी रूपमें आखें फेर ली गई थी। विशेष रूपसे फ्रांसीसी उपनिवेशवादके विरुद्ध आक्रमण किया गया था। एशियायी दृष्टिकोणमें यह बात इस कारण प्रभाव डाल सकी क्योंकि हिंदचीनकी घटनाओंमें भी फ्रांस सम्बधित था।

विदेशी मामलोंमें भारतीय स्वतंत्र दृष्टिकोण काश्मीर प्रश्न पर यथेष्ट प्रभाव डालता रहा। संयुक्त राष्ट्रके प्रतिनिधि फ्रैंक ग्राहमने सितंबरमें यह घोषणा की थी कि वह भारत और पाकिस्तानके बीच कोई समझौता स्थापित न कर सके। नवम्बर तक काश्मीरकी विधान–निर्मात्री–परिषद् उत्तराधिकारी शासन व्यवस्थाके स्थानपर भारतके साथ राज्यके विलीनीकरणको स्थायी रूप प्रदान करनेके लिये कार्यरत हो गई थी। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी कि सालकी समाप्ति तक काश्मीरमें संप्रदायवादी हिन्दू-प्रजा-परिषदका आंदोलन आरम्भ हो गया था जो ऐसा मालूम पड़ता था कि साम्राज्यवादियोंकी मौनानुकूलता पर किया गया है।

यही आंदोलन था जिसने शेख अब्दुल्लाको 'स्वतंत्र काश्मीर' का विचार प्रोत्साहित करनेका मौका दे दिया, जिस बारेमें वह महीनों पहलेसे मनसूबे बाँध रहे थे। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अमेरिकन समाचार-पत्रोंमे लगभग उसी समय उनकी चापलूसी करनेवाले लेख प्रकाशित हुए। 'वाशिंग्टन पोस्ट'

नामक पत्रमें एक लेखकने यहाँ तक लिख दिया की काश्मीरका बच्चा बच्चा अब्दुलाके पीछे चलेगा।

दिल्लीके यथार्थ वादियोंके लिये 'स्वतंत्रता' के ऐसे सिद्धांतोंका केवल यही अर्थ हो सकता था कि काश्मीर विश्वासघात करके अमेरिकासे मिल जाय, क्योंकि केवल वही बहुमूल्य सैनिक मोर्चोंके बदलेमें इस प्रकारकी बनावटी स्वतंत्रता प्राप्तिमें सहारा दे सकता था। आश्चर्यकी बात यह है कि भारतसे कुछ प्रगतिवादी भी इस प्रकारकी विचारधाराका तब तक समर्थन करते रहे, जब तक कि उन्होंने अपने विचारोंके सम्भावित परिणामोंको नहीं समझ लिया।

अब्दुल्ला-कांडमें अमेरिकाका हाथ होनेसे, जिसकी पुष्टि काश्मीर सरकारने अनेक बार की है, भारत और अमेरिकाके बीच बढ़नेवाले मतभेदोंकी ओर ध्यान केन्द्रित हो जाता है, वहाँकी घटनायें, खुले विरोधका केवल एक ही पहलू थीं।

पहले यह दोषारोपण किया गया था कि अमेरिकन कूटनीतिज्ञ, नैपालके अशांत क्षेत्रमें सामंतवादी राणाओंको भारतीय सलाह और सहायताको अस्वीकृत करनेकी पट्टी पढ़ा रहे हैं। उत्तरी पूर्वी सीमांतके नागाक्षेत्रमें वहाँ निवास करनेवाली जातियोंमें भी अमेरिकन धर्मप्रचारक कार्य कर रहे थे। धर्म परिवर्तन करनेवाले नये व्यक्तियोंको यह सिखलाया जाता था कि उन्हें भारतके समान विधर्मी राज्यसे अलग होना चाहिये। हिमालयकी उत्तरी सीमाके सहारे चीनी जन गण-तंत्र और तिब्बतके विरुद्ध अमेरिकन गुप्तचरोंकी कार्यवाइयोंकी भी सूचना मिली थी।

जब काश्मीर संकटका विवरण प्राप्त हुआ, जैसा कि होना चाहिये था वास्तविकता सामने आ गई। यह पता चला कि स्वतंत्रता और व्यक्तिगत शक्ति प्राप्त करनेके विचारोंमें डूबे हुए शेख अब्दुलाको अमेरिकन कूटनीतिज्ञोंसे उत्साह प्राप्त हुआ था। उनके निश्चयको दृढ़ करनेके लिये अर्थ और प्रचार दोनों तरहकी सहायता देनेकी भी प्रतिज्ञा की गई थी। उनकी ओरसे पाकिस्तानसे भी संपर्क स्थापित किया गया था। राष्ट्र संघीय प्रेक्षकोंको भी सम्भावित शासकीय परिवर्तनका इशारा कर दिया गया और वे इस काममें अपनी सेवा प्रस्तुत करनेके लिये तैयार थे।

नई प्रवृत्तियाँ

इस कार्यवाहीको छिपानेके लिए प्रजा परिषदका आंदोलन केवल एक परदा था। इस संपूर्ण कार्यवाहीमें समस्त मध्य पूर्वमें छिप कर आक्रमण करनेके अमेरिकन ढंगकी गंध आ रही थी।

अगस्त १९५३ में कुशलतापूर्वक रचे हुए इस षड़यंत्रका प्रमाण सरकारके हाथ आ गया। अब्दुल्ला और उनके सहयोगियोंको बंदी बना लिया गया और इस प्रकार एक संकटपूर्ण परिस्थितिसे रक्षा हो गई।

अब्दुल्लाके विरुद्ध की गई कठोर कार्यवाहीसे भी अमेरिकाका राज्य-विभाग अनुत्साहित नहीं हुआ। उन्होंने अपना जाल पाकिस्तानमें फैलाया, जहाँ प्रधान मंत्रीपदका कार्यभार नाजिमुद्दीनसे उनके पिट्ठू मुहम्मद अलीने ले लिया था। यह गरम अफवाहें थीं कि करांची-वाशिंगटनके बीच एक धुरीका निर्माण हो रहा है। लेकिन इसके बारेमें आगे बतालावेंगे।

महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत और अमेरिकाके सम्बंधोंमें यह गम्भीर प्रकारात्मक परिवर्तन उस समय हो रहा था जब ५ मार्च १९५३ को स्टालिनकी मृत्युके उपरांत सोवियट संघने अंतर्राष्ट्रीय तनावको कम करनेके उद्देश्यसे पूर्व-कालीन औपनिवेशिक तथा संसारके अविकसित क्षेत्रोंके साथ निकट आर्थिक और राजनैतिक सम्बंध स्थापित करनेके लिये एक नाटकीय नीति अपनाई थी। इसके अतिरिक्त अगस्त १९५३ में मेलोंकोवने यह प्रकट किया था कि रूसने उद्-जन बम बना लिया है जो संयुक्त राज्य अमेरिकाकी युद्ध तैयारियोंके लिये एक अतिरिक्त प्रतिरोध था।

हर जगह सम्राज्यवादी पीछे हट रहे थे और वह देशोंकी पूर्वस्थिति एव विश्वसनीयताकी ओर ध्यान न देकर तेजीसे मित्र खोजनेमें लगे हुए थे। अफ्रीकामें मुक्ति-आंदोलन प्रभावित-क्षेत्रका विस्तार हो रहा था। यद्यपि ईरानमें परिवर्तन हो चुका था, जहाँ साहसी प्रधानमंत्री मुसद्दीकको अमेरिकापर अश्रित सैनिक क्रांतिके द्वारा पद-भ्रष्ट कर दिया गया था, फिर भी फ्रांसीसी साम्राज्यकी दीवाल गिर रही थीं। वितनाम आज्ञाका उल्लंघन कर रहा था। मोरक्को विद्रोहमें सम्मिलित हो गया था।

अमेरिकन नीतिमें लड़ाकू पन प्रमुखतया संयुक्त राज्यके सामान्य चुनावोंमें रिपब्लिकन पार्टीके सत्तारूढ़ राजनैतिक पार्टीके रूपमें प्रतिष्ठित होनेके कारण आया था। जनरल आइसन हावरकी अध्यक्षतामें नई सरकार परिस्थितिको संभालनेमें व्यस्त हो गई, लेकिन भारतका स्पष्ट विरोध विश्व-शक्तियोंका संतुलन बदलने ही वाला था।

भाषावाद

चाहे हम चलते हों, बैठे हों, खड़े हों अथवा दायाँ या बायाँ पैर उठाते हों, हमें अपनी जन्मभूमिको चोट नहीं पहुँचानी चाहिये।

(अथर्ववेद)

भारत जैसे देशमें विदेशी परिवर्तनोंका आंतरिक नीति पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। ज्यों ही १९५२ में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ा कि वर्तमान आर्थिक समस्याओंके सुलझानेमें पूँजीजीवियोंकी सहायता करनेके लिये साम्राज्यवादी नहीं आ रहे है और भारतको अपने प्रयत्नोंका ही भरोसा करना पड़ेगा, राजनैतिक विचारधारामें भी परिवर्तन होने लगा।

यह विश्वास फल गया कि आर्थिक क्षेत्रमें सरकारी हस्तक्षेपके बिना कोई प्रगति सम्भव नहीं है और सरकारका सहारा लेनेकी आवश्यकताका प्रभाव यह हुआ कि पूँजीजीवियों और उनके राजनैतिक साधन काँग्रेस पार्टीमें भारी मतभेद हो गया।

कठोर प्रयत्नों द्वारा भी बड़े व्यवसायी किसी प्रकारके भारी उद्योगोंके विकासके लिये निजी पूँजी कभी प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस कारण उन्होंने यह निर्णय किया कि चाहे सहायताका अर्थ वित्तीय मदद भले ही हो, लेकिन फिर भी पूँजीजीवियोंके द्वारा देशकी आर्थिक उन्नतिमें सहायता करना सरकारका कर्तव्य है। इसका अर्थ यह था कि सरकारको जनतापर कर लगाकर उस पैसेको भारतीय व्यापारियों और औद्योगिकोंको देना चाहिये। वास्तवमें यही ऐसा नारा था जिसे सभी पूँजीजीवियोंका समर्थन प्राप्त होता।

लेकिन पूँजीजीवियोंके मध्यम वर्गीय लोग इस सम्भावनाके बारेमें बिलकुल प्रसन्न नहीं थे। उनके बड़े भाइयोंका लाभके समस्त स्रोतों पर एकाधिकार बहुत दिन रह चुका था। उन्होंने अपने कम शक्तिशाली साथियोंको विकास और प्रसारकी सुविधाओंसे काफी समय वंचित रखा था। अब चूंकि बड़े स्तर पर लाभ हो सकते थे, मध्यम पूँजीजीवियोंने यह अवश्य सोचा कि इस सम्भावना का आत्मसमपण बड़े पूजीजीवियोंके सामने न किया जाय, क्यों कि यदि वैयक्तिक

उद्योगोंमें सरकार द्वारा सहायता देनेका नारा बुलंद किया जाता है, तो उसका असली तत्व तो वही हड़प कर जायँगे।

सभी पूँजीवादी समाजोंमें सामान्यतया विद्यमान यह बड़े और मध्यम पूँजीजीवियोंका संघर्ष भारतमें एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है तथा उसकी अपनी कुछ निजी और एकांतिक विशेषताएँ हैं। इसके विशेष अध्ययनकी आवश्यकता है, क्योंकि इसी बात पर काँग्रेस पार्टीके आर्थिक दृष्टिकोणमें होनेवाले वामपंथी झुकावका समझना आश्रित है।

यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक पूँजीवादी देशके पूँजीजीवियोंमें अनेक सामान्य विशेषताएँ होती हैं, जिसके कारण हमें आर्थिक और राजनैतिक इतिहासमें उनके विशेष रोलको समझनेमें सहायता मिलती है। लेकिन इसी विशेषतापर इतना अधिक बल दिया जाता है कि इसके कारण प्रत्येक देशके पूँजीजीवियोंकी रचना-की अन्य विशेषतायें धुँधली पड़ जाती हैं जो उनसे भिन्न हैं और जिनकी जड़ें उसी देशकी जनताके इतिहास और विकासमें जमी हुई होती हैं। भारतीय पूँजीजीवियोंमें इस प्रकारकी विशेषताओंका भाग सामान्यसे अधिक है।

आइये, इस मरीजकी हम संक्षेपमें परीक्षा कर डालें। इतिहासज्ञ भारत सम्बंधी पूरी बातों पर विश्वास नहीं करते, लेकिन उसके ५००० वर्षोंसे अधिकके कुछ अस्पष्ट और कुछ स्पष्ट इतिहाससे यह बात पूर्ण रूपसे प्रकट हो जाती है, कि भारत कभी संयुक्त इकाई नहीं रहा। पूर्वकालमें अपनी सार्वभौमिकताकी घोषणा करनेवाले बड़े-बड़े साम्राज्य अवश्य स्थापित हुए थे। वह एक विशाल क्षेत्रमें फैले हुए थे और अपने आदेशोंका पालन करवानेके लिये उन्होंने एक बड़ा विशाल नौकरशाही यन्त्र स्थापित कर रखा था। लकिन मौर्य, गुप्त, कुशान और सातवाहन शासनकालमें भी एक साम्राज्यने भारतके समस्त भूभाग-का नियंत्रण नहीं किया। देश अधिकतर अनेक राजवंशोंके प्रभावम रहा, जिनमें कुछ ने अपने विरोधियोंके ऊपर सर्वशक्तिमत्ता स्थापित कर रखी थी, लेकिन जो संकटकालमें अपनी साम्राज्यवादिताका दावा बहुत कम ही प्रमाणित कर पाते थे।

हम यह भी जानते हैं कि भारतमें अलग–अलग भाषा, लिपि और रीति-रिवाजों वाली अनेक स्पष्ट संस्कृतियाँ पल्लवित हुई हैं। यद्यपि बहुत कुछ समान बातोंसे ही यह निकली थीं, लेकिन उनमें अपनी स्वतंत्र विशेषतायें थीं। यदि सुदूरवर्ती निर्माण कालीन भूतकालमें कोई शक्तिशाली एकता स्थापित करनेवाली सत्ता होती, तो निसंदेह भारतीय एकतामें व्याप्त विभिन्नता और अनेकरूपता, सम्भव नहीं हो सकती थी।

दासत्व प्रदान करनेवाले बर्तानियोंके आगमनके साथ ऐसी शक्ति प्रकट हुई जिसने लूट और औपनिवेशिक प्रशासन स्थापित करनेके लिये भारतके विस्तृत क्षेत्रों और करोड़ों निवासियोंको एक केन्द्रीय व्यवस्थाके आधीन कर दिया। लेकिन वह बहुत विलम्बसे आये थे। भारत विभिन्नतामें पहलेसे ही धनी था और अब संघर्षके लिये संयुक्त हो गया। निर्दय साम्राज्यवादके सम्पूर्ण अत्याचार भी उस चीजको नष्ट न कर सके, जिसे कुछ लोग भारतकी अनेक राष्ट्रीय विशेषता कहते हैं।

विदेशी ब्रिटिश शासकोंपर इस विशेषताने इतना स्पष्ट प्रभाव डाला कि कुछ समय उपरांत अपनी सत्ता कायम रखनेके लिये उन्होंने इसी विभिन्नताका उपयोग करनेका प्रयत्न किया। राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दुओंको मुसलमानोंसे लड़ाया गया और उन क्षेत्रोंमें जहाँ इस प्रकारका सांप्रदायिक विभाजन नहीं था, दूसरोंको सावधानीसे तैयार किया गया। स्वेच्छापूर्वक भारतको प्रांतोंमें विभाजित किया गया, जिसके लिये संवैधानिक शब्द था, "सुविधाजनक प्रशासनिक इकाइयाँ"। लेकिन अधिकतर प्रांतोंमें दो या दो से अधिक भाषिक–सांस्कृतिक समूहोंको इकट्ठा रखा गया, जिससे वह 'बांटो और राज्य करो' नीतिके सहज शिकार बन सकें।

विलीनीकरण बहुत कम ही हो सका। लुटेरे विदेशियोंकी उपस्थितिमें भी सम्प्रदायोंके बीचकी खाई न पाटी जा सकी। धीरे-धीरे प्रांतके निर्बल साथियोंके ऊपर दूसरा समूह प्रधानता स्थापित करता गया।

तनाव बढ़े। उनके अंतर अधिक स्पष्ट रूपमें व्यक्त होने लगे। तामिलोंने तेलगू और मलायालमों पर प्रधानता प्राप्त कर ली, मराठोंपर गुजराती छा गये, बंगाली, बिहारियोंसे घृणा करते थे आदि। साम्राज्यवादी प्रशासनके लिये यह आदर्श स्थिति

थी, पर भारतकी ऐतिहासिक प्रगति पर इसका पूरा प्रभाव अच्छी तरह समझना अभी शेष है।

अनेक लेखक और राजनीतिक-विश्लेषक हिन्दू-मुसलमानके प्रश्न तक अपनेको सीमित रखते हैं और वह सही रूपमें इसे घृणाका एक अस्थायी परिणाम समझते हैं, एक ऐसा रोग जो धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोणके निरंतर प्रचार द्वारा दूर हो जायगा। कुछ लोग इस फूटका प्रमुख कारण उत्तरी भारतवासियोंकी राजनैतिक क्षेत्रमें प्रधानता और दक्षिण भारतवासियोंका इस स्थितिके प्रति असंतोष बतलाते हैं।

इस मतभेदकी विद्यमानताको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह अंतर उतना ही पुराना है जितना रामायण। विंध्यपर्वत-शृंखला साधारण तौरपर इसकी भौगोलिक विभाजन-रेखा है। यह समस्या अनेक विषयोंमें व्यक्त होती है, लेकिन इस समय भाषा ही इस तनावका मुख्य कारण थी। दक्षिणवासी इसे 'हिन्दी-साम्राज्य-वाद' कहना पसंद करते हैं।

इस मतभेदको भविष्यमें काफी होशियारीसे संभालना पड़ेगा, लेकिन आज भारतके विकास पर उसका प्रभाव इतना निर्णायक नहीं है, जितना देशके अन्दर विद्यमान अनेक स्पष्ट सांस्कृतिक और भाषिक दलोंका है। अधिकतर यह तत्व समझमें नहीं आता। मार्क्सवादी लखक तक उसे बहुत ही यांत्रिक और सीमित ढंगसे समझते हैं। भारतीय पूँजीजीवियोंका अध्ययन केवल इसी सांस्कृतिक और भाषिक तनावकी पृष्ठभूमिमें किया जा सकता है। हम क्या देखते हैं?

ब्रिटिश शासन और उसके बादके वर्षोंमें भारतने बड़े पूँजीजीवियोंका शीघ्रता-पूर्वक पल्लवित होना देखा है, जिन्हें साधारणतया बड़े व्यापारी-तत्व कहा जाता है। दोनों विश्वयुद्ध तथा पैसा पैदा करनेके प्रत्येक अवसरके कुशलतापूर्वक दोहनके कारण चाहे उसका अर्थ साम्राज्यवादी पूँजीसे समझौता करना हो, साथ ही साथ पैसे द्वारा स्वतंत्रता आंदोलनोंकी सहायता देनेके कारण ये तत्व आर्थिक और राजनैतिक जीवनमें आगे आये।

एक बिड़लाको अंग्रेजोंकी ओरसे खिताब मिलते थे। दूसरा बिड़ला कॉंग्रेस नेताओंके विश्वासपात्रके रूपमें काम करता था। अपनी स्थितिके बलपर वह इस

प्रकारका दोहरा पार्ट सरलतासे खेल पाते थे और जब राजनैतिक आकाश पर हिन्दू महासभाका सितरा उगता हुआ दिखलाई पड़ा, बिड़ला वहाँ भी अपनी उँगली रखनेमें पीछे नहीं हटे।

साम्राज्यवादियोंसे उनका विरोध केवल इसी सीमा तक था कि वे उनके एकाधिकारी फैलावके विषयमें बाधा उपस्थित करते थे और बिड़लाओंकी विचारधारा टाटा, डालमिया, गोइनका, सिंघानियाँ आदि बड़े व्यापारी 'परिवारों'से कुछ विशेष भिन्न नहीं थी।

भारतीय बड़े पूँजीजीवियोंने अपना जाल सारे देशपर फैला दिया और तामलोटों से लेकर रेल इजन तक, खाना पकानेके स्निग्ध पदार्थों से लेकर बढ़िया इस्पात तकका उत्पादन आरम्भ कर दिया। अपनी एकाधिकारी पकड़को अधिक दृढ़ करनेके लिये उन्होंने अपना सम्बंध विदेशी कम्पनियोंसे भी स्थापित कर लिया; चाहे इसका अर्थ नट, बोल्टोंका ही बेंचना हुआ। लाभके किसी क्षेत्रको उन्होंने बाकी नहीं छोड़ा।

इस विषयमें टाटा और बिड़ला एशिया और अफ्रीकाके पिछड़े हुए क्षेत्रोंमें काम करनेवाले व्यापारियों और संचालकोंके बहुत कुछ समान हैं तथापि एक तत्व ऐसा भी है जिसका उदाहरण अन्यत्र नहीं मिल सकता। थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर भारतके बड़े पूँजीजीवी अधिकतर मारवाड़ी व्यापारी हैं। वे विवाह और अन्य दूसरी दृश्य और अदृश्य ग्रंथियोंसे परस्पर जुड़े हुए हैं। उनमें टाटा सरीखे जो थोड़ेसे गैर-मारवाड़ी हैं, उन्हें भी उनके राजनैतिक नेतृत्वके पीछे चलना पड़ता है। उनके अखिल भारतीय कार्य-कलाप उन्हें मध्यमवर्गीय पूँजीजीवियोंके हितोंके संघर्षमें ला देते है, क्योंकि विदेशी अपने साथियोंके विरुद्ध इनका आधार क्षेत्रीय है और ये आवश्यक रूपसे अपने ही भाषिक; सांस्कृतिक क्षेत्रमें व्यापार करते हैं। धनवानोंका यह कम शक्तिशाली भाग बिड़ला और टाटाको अपना बड़ा भाई नहीं समझता जिनका वे सहारा ले सकें, वरन् वह उन्हें एक नये ढंगका आर्थिक साम्राज्यवादी समझते हैं जो भारतकी रचना करनेवाले विभिन्न स्पष्ट भाषिक क्षेत्रोंकी उन्नतिके बाधक हैं।

बड़े पूँजीजीवियों और विदेशी पूँजीके विरुद्ध होनेवाला यह संघर्ष बहुत वास्तविक है। जब किरलोस्कर डिजिल इंजनोंका उत्पादन आरम्भ करते हैं तो बिड़ला या टाटा उसका अधिक ऊँचे स्तर पर उत्पादन आरम्भ करके किरलोस्करकी तरक्की रोक देते हैं; जब स्थानीय सोडा वाटरकी फेक्टरियोंकी प्रगति होती है; कोका कोला उनका व्यापार समाप्त कर देता है। बिड़ला अपनी ब्रांडकी मोटरें बेंचना चाहते हैं और इस बातका प्रयत्न करते हैं कि मोटरोंके विषयमें देशकी आयात नीतिमें आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाय। दियासलाई बनानेका दक्षिणमें कुटीर उद्योग करने वालोंको 'विमको'से कड़ा मुकाबला करना पड़ता है। गोदरेज और अन्य छोटे मोटे साबुन निर्माताओंको लीवर ब्रदर्स सरीखी संयुक्त कंपनियोंका सामना करना पड़ जाता है। यदि कोई महीन वस्त्र बनानेको मशीनके निर्माणकी बात करता है तो बिड़ला उनसे आगे बढ़ जाते हैं और अतमें उन्हें स्वय अहमदाबादके मिल मालिकोंसे जूझना पड़ता है, जो अपने सामानके लिये उन पर आश्रित नहीं रहना चाहते। और मारवाड़ी इस बातका इत्मीनान करनेके लिये मुद्रणालयोंपर भी एकाधिकार स्थापित कर डालते हैं कि स्थानीय पत्रोंका न तो पूर्ण वितरण हो, न उन्हें विज्ञापन मिले और अंतमें वे चल भी न सकें। इस बातके असंख्य उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। इन सब बातोंसे यही दीखता है कि भारतीय और विदेशी एकाधिपति एक दूसरेके पूरक बन कर इस प्रकार कार्य करते हैं, जिससे भाषिक सांस्कृतिक क्षेत्रोंमें उनके छोटे पूँजीजीवी भाईयोंको कार्य करनेका अवसर ही न मिल।

इन लोगोंका भय उचित ही था, क्योंकि जिन क्षेत्रोंमें वे कुछ प्रगति कर सके उसमें भी सहायताके लिये उन्हें अधिकतर इन अखिल भारतीय व्यापारी सेठोंका मुहताज होना पड़ता था और सहायताके साथ उनके अनेक उपबंध जुड़े रहते थे। यदि मध्यवित्तीय पूँजीजीवीके अधिष्ठानोंके पूँजी ढाँचेकी परीक्षा की जाय, तो यह पता चलेगा कि वे वास्तवमें अपने स्वामी नहीं हैं।

भारतीय पूँजीजीवियोंकी रचनाका यह रूप पहली बार देखने पर अव्यवस्थित भले ही मालूम पड़े, लेकिन जितना ही उन्हें ऐतिहासिक रूप और वर्तमान परिस्थितिकी दृष्टिसे पढ़ा जाता है, उतनी ही परिस्थिति साफ हो जाती है। बड़े पूँजीजीवो

जिनका संचालन-क्षेत्र समस्त भारत है और जो अधिकतर मारवाड़ी है, आर्थिक विदोहनके लिये अपने ही भाषिक क्षेत्रमें निर्वाध अधिकार चाहनेवाले मध्यम पुँजी-जीवियोंकी उन्नति और प्रसार रोकते हैं।

यह संघर्ष, जो प्रमुखतया आर्थिक है, उस समय राजनैतिक स्तर तक पहुँच गया, जब राज्यको देशके साधनोंको विकसित करनेके लिये प्रयत्नशील होनेके लिये विवश होना पड़ा, क्योंकि साम्राज्यवाद उन शर्तों पर सहायता देनेके लिये तैयार नहीं था, जिसकी उपयुक्तता उनके बड़े पूँजीजीवी मित्र स्वतंत्रता और सार्वभौमिकताके प्रति जागरूक जनताके सामने सिद्ध कर सकते। आर्थिक नीतिमें राज्यके नेतृत्वका प्रश्न बड़े और मध्यम पूँजीजीवियोंके बीचके इस संघर्षको राजनैतिक कार्यावलि पर पहुँचा देता है।

प्रारम्भिक रूपमें यह संघर्ष देशको सांस्कृतिक-भाषिक आधार पर पुनः विभाजित करनेकी माँगके लिये होनेवाले राष्ट्रीय आंदोलनमें दिखलाई पड़ता है। मध्यम पूँजीजीवी अपने कार्यक्षेत्रमें दृढ़ता प्राप्त करनेके लिये यह कदम उठाना आवश्यक समझता है। जिस प्रकार बड़े पूँजीजीवियोंने राजनैतिक शक्ति प्राप्त करनेकी आशासे अखिल भारतीय काँग्रेसकी सहायता की थी, उसी प्रकार मध्यम पूँजीजीवियोंने नये राज्योंके निर्माणमें सक्रिय सहायता दी, ताकि वे उनके प्रभावमें रहें और संघकी नीति पर अधिक प्रभावशाली दबाव डाल सकें। मध्यम पूँजीजीवी अपने राज्योंके निर्माणके लिये दृढ़प्रतिज्ञ थे।

लेकिन उनके प्रयत्नोंकी रूपरेखा हमेशा इतनी स्पष्ट नहीं दीख पड़ती। मद्रासके तामिल और बम्बईके गुजराती आदिके समान प्रधान भाषिक–सांस्कृतिक वर्गके पूँजीजीवी यथेष्ट विकसित हैं, जिन्हें 'बडा' कहा जा सकता है। राज्य पुनर्रचनाकी माँग इनकी ओरसे इतनी जोरदार नहीं हैं, क्योंकि यह विकसित वर्ग राज्यके अपने निर्बल साथी पूँजीजीवियोंके प्रयत्नोंको दबा सकते हैं। लेकिन यह झिझक अधिक-तर उस समय समाप्त हो जाती है, जब अखिल-भारतीय बड़े पूँजीजीवी प्रमुख शत्रुकी रूपरेखा उन्हें दीखने लगती है।

एक सुदृढ़ केन्द्रीय प्रशासनके प्रतिपादक टाटा बिड़ला आदि, प्रांतोंकी पुनर्रचनाकी माँगको नहीं दवा सके, क्योंकि अपनी प्रकृतिके कारण राज्योंमें वे अपने कोई समर्थक न पा सके, वे बंगालियों, पंजाबियों, बिहारियों, तेलगुओं, महाराष्ट्रियनों और मलायालियोंमें कोई बड़ा पूँजीजीवी न ढूँढ़ सके। शायद बम्बई शहरमें रहनेवाले गुजराती व्यापारी, जो भारतीय एकाधिकारी पूँजीसे जुड़े हुए हैं, उनके एकमात्र साथी थे। सबसे अधिक विकसित, और भारतके मध्यमवर्गीय पूँजीजीवियोंमें राजनैतिक रूपमें सबसे अधिक संगठित, अहमदाबादके गुजराती भी अखिल भारतीय प्रभाव रखनेवाले इस वर्गकी शक्ति समाप्त करनेके इच्छुक थे।

यह शक्ति समाप्त की जा सकती है। नये ढंगसे रचे हुए प्रांतोंका अर्थ था, मध्यम पूँजीजीवियोंद्वारा आसानीसे नियंत्रित किये जा सकनेवाले व्यवस्थापिका सदस्यों-का चुनाव। व्यवस्थापक प्रत्येक क्षेत्रका संतुलित विकास करनेपर बहुत कुछ जोर डाल सकते थे, जिस विकासके लिए दिल्लीसे सहायता प्राप्त होती और जिसका अर्थ था अपने क्षेत्रोंमें प्रधान, और बड़े पूँजीजीवियोंद्वारा नियंत्रित, केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित और विभाजित न होनेवाले मध्यम पूँजीजीवियोंको लाभके नये स्रोत प्राप्त करना।

और इसी कारण १६५२ के अंतिम चरणमें जब यह स्पष्ट हो गया कि सरकार अधिक विकास-कार्योंका नेतृत्व करनेवाली है, भारतके सबसे अधिक पिछड़े हुए सांस्कृतिक भाषिक क्षेत्र, आंध्रमें प्रथम भाषिकराज्यकी माँग करनेवाला एक आंदोलन धधक उठा। वहाँके काँग्रेसियोंने काँग्रेसके आदेशोंकी अवहेलना की।

पोट्टी श्रीरामलूने परंपरागत आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। ५८ वें दिन उनकी मृत्यु हो गई। वे आंध्रकी एकताके प्रतीक थे और उनकी मृत्युके परिणाम स्वरूप जोश इतना बढ़ा कि दिल्लीको उनके सामने झुकना पड़ा। १६ दिसम्बर १६५२ को नेहरूने घोषणा की कि सरकारने यह माँग मान ली है।

एक वर्षके अंदर ही अंदर, २२ दिसम्बर १६५३ को सीमाओंको पुनगठित करनेके प्रश्नकी सभी दृष्टियोंसे परीक्षा करनेके लिए राज्यपुनर्गठन आयोगकी नियुक्ति कर दी गई।

जब भविष्यके इतिहास रचयिता इन घटनाओंको लिखेंगे, उन्हें इन घटनाओंमें भारतीय प्रगतिका एक नवीन निर्णयात्मक रूप दिखलाई पड़ेगा। इस समयसे अपनी पृथक विशेषतायें रखनेवाले भारतीय मध्यम पूँजीजीवी देशकी नीतिपर अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर देते हैं। भविष्यमें दो नये शब्द बहुत जनप्रिय बन जाते हैं "सार्वजनिक क्षेत्र"। ये दो शब्द बड़े पूँजीजीवियोंसे संघर्ष करनेके बड़े भारी दृश्य हैं।

यह ठीक है, कि आरम्भमें सार्वजनिक क्षेत्रकी नीति मध्यम पूँजीजीवियोंकी भी समझमें नहीं आई और यह मालूम पड़ा कि इसका अर्थ यही है कि आर्थिक कुशलताके हितार्थ पूँजीवादी सरकार कुछ कार्य अपने हाथमें ले लेगी। लेकिन यह दृष्टिकोण भी उस समय समाप्त हो गया, जब राज्यने सक्रिय रूपसे उन क्षेत्रोंमें भी प्रवेश किया, जिन्हें बड़े पुँजीजीवियोंने अपना आरक्षित स्थान समझ रखा था, जैसे इस्पात।

भारतका इस प्रकारके हस्तक्षेपका विचार ब्रिटेन और अमेरिकाके इसी प्रकारके कार्यसे यथेष्ट पृथक था। उनकी अर्थव्यवस्था विकसित है और वहाँ यदि राज्य किसी आर्थिक कार्यक्रमको स्वयं सँभालनेके लिये आगे बढ़ता है, तो उन्हीं क्षेत्रोंमें जिन्हें वैयक्तिक प्रयत्न विभिन्न कारणोंसे सफलतापूर्वक नहीं सँभाल सकते। भारतके सम्बंधमें यह बात नहीं है। नवीन अर्थव्यवस्थाकी तुलनामें यह देश अविकसित ही है और इस कारण राज्यके हस्तक्षेपका अर्थ केवल एक ही निकलता है कि सरकार विकासकार्योंका नेतृत्व करके क्रमशः प्रमुख स्थिति प्राप्त करनेवाली है।

१९५२–५३ में शक्तियोंके इस विचित्र संगठनका कोई राजनैतिक विवेचन नहीं किया गया। फल स्वरूप भारत वामपंथियोंसे मित्रता करनेकी ओर बढ़ा। विदेशी समस्याओंमें नेहरूकी साम्राज्यवाद-विरोधी स्थितिको "दो शिविरोंके बीच बनियेका तमाशा" कहकर टाल दिया गया और आश्चर्यकी बात यह है कि यही दृष्टिकोण दक्षिण और वामपंथी दोनोंने अपनाया था।

इस सम्बंधमें अनेक आंग्ल-अमेरिकन तेल-कंपनियों द्वारा भारतमें तेल-शोधक कारखाने स्थापित करनेके बारेमें होनेवाली संधियोंकी ओर ध्यान गया। इन संधियों-

के फल स्वरूप विदेशी पूँजीको आवश्यकतासे अधिक अच्छा व्यवहार प्राप्त हुआ, क्योंकि उन्हें अपने लाभ निर्यात करनेकी आज्ञा थी। केवल यहीं आत्मसमर्पण दिखलाई पड़ता था। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इस प्रकारकी परस्पर विरोधी नीति संक्रांतिकालमें अधिकतर दिखलाई पड़ती है। तथापि राजनैतिक विश्लेषणका कार्य इसकी मुख्य प्रवृत्तियोंको ढूँढ़ना, वर्ग संगठनके रूपमें इन्हें समझना और सम्भावित प्रगतिको पहलेसे देखना है। यह नहीं किया गया, यद्यपि १९५३ के अंतमें न केवल नेहरू, एसोसियेटेड चेंबर ऑफ कामर्सके सामने यह कह रहे थे कि औद्योगीकरणका मुख्य भार सरकारके ऊपर है, बल्कि आईसनहावर और उनके मित्र पाकिस्तानसे सैनिक सहायताकी संधिके बारेमें बातचीत करते हुए भी सुने गये थे। सम्भवतया दूसरी बात और भारतकी भविष्य-नीतिपर इसका प्रभाव किसी सीमा तक समझ लिया गया था। भारतके अंदर होनेवाले परिवर्तनोंसे उन्हें सम्बंधित न करनेके कारण उसके वास्तविक अर्थकी पूर्ण विवेचना न हो सकी।

१९५३ के अंतमें न तो कॅग्रेसियोंने और न समाजवादियोंने यह अनुभव किया कि अगले दो वर्षोंमें क्या होनेवाला है। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर विश्वासपूर्वक यह घोषणा करने लगे कि जवाहरलाल नेहरू और उनकी सरकारको स्वयं उस मार्गकी कुछ भी कल्पना नहीं थी, जिसपर वे चलनेवाले थे, एक ऐसा मार्ग जिससे भारतके असंख्य व्यक्तियोंके लिये आश्चर्यजनक संभावनायें प्राप्त होनेकी आशा थी।

वर्तमान

महत्वपूर्ण वर्ष

अपनी मातृभूमिका कौन दोस्त है और कौन दुश्मन ?
आप स्वयं विचार पूर्वक देखकर पता लगाइये ।

—मजहूर ।

वर्तमानके बीज भूतकालमें थे । भूतकालका परिणाम वर्तमानकालमें दीखता है । यही सतत क्रम है। और स्वतंत्र भारतके इतिहासमें १६५४ और १६५५ के वर्षोंको परिवर्तन-विंदुके रूपमें स्मरण किया जायगा । यह एक महत्वपूर्ण निर्माण-काल था, जिसने वर्तमानका रूप निर्धारित किया ।

घटनाओंने षड़यंत्र रचकर भारतको तथा भारतके विचारोंको गम्भीर परिणामोंसे पूर्ण विषय बना डाला था, कुछ समय तक तो सरकारी रूपमें मास्को, वाशिंगटन, पेकिंग और लंदनकी यही धारणा बनी रही । इसका उत्तर स्पष्ट था । शीत युद्धकी व्यूह-रचनाने संसारके लोगोंको लड़ाईके किनारेपर लाकर खड़ाकर दिया था । भारत इस प्रश्नके किसी प्रकारसे निर्णय करनेमें सहायता कर सकता था ।

यद्यपि कोरियामें बंदूकें शांत हो गई थीं, लेकिन संपूर्ण चीनी समुद्रतटपर संकट और छेड़छाड़की गूंज बनी हुई थी । हिंद चीनमें शीघ्रताके साथ एक नये अंतर्राष्ट्रीय संघर्षकी सुपरिचित स्थिति पल्लवित हो रही थी । यूरोपीय बारूदका भंडार भी बहुत सूखा हुआ था । वाशिंगटनने हस्तक्षेपके लिये यही अवसर उपयुक्त समझा । इस संघर्षके इतने निकट होनेपर भी लोग अंतिम स्थितिमें अवरोध उपस्थित करनेके लिये पूर्ण प्रयत्नशील थे। दूसरे शब्दोंमें, इस शीत युद्धके अंदर ही छुटकारा पानेके कारण भी दीख रहे थे।

जिन्होंने युद्धपर दाव लगा रक्खा था, झिझकनेवालों पर बुरी तरह दबाव डाल रहे थे। लेकिन इन झिझकनेवालोंके, विशेष रूपसे फ्रांस और बर्तानियाँके हित इतने अधिक परिव्याप्त थे और वे समाजवादी दुनियाँसे तब तक संघर्ष करनेके लिये तैयार न थे, जब तब कि सुदूर, निकट आर मध्यपूर्वमें उनके हितोंकी रक्षाका प्रबंध न हो जाता। इन क्षेत्रोंकी कुंजी भारतके पास थी ।

भारत अपनी सक्रिय तटस्थताकी स्थितिसे किंचितमात्र भी हटनेका इरादा नहीं करता था। यही वह स्थिति थी जो युद्धके दबावका अवरोध कर रही थी तथा यूरोप और एशियामें विद्यमान सूखे हुए बारूदके ढेरको गीला रखनेवाले युद्ध-विरोधी विचारोंको शक्ति प्रदान कर रही थी।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके कुशल रणनीतिज्ञोंने यह निर्णय किया कि अब मखमली दस्ताने चढ़ाकर उनकी आड़में कार्य करनेका समय आ गया है। भारतको सीख देनी थी। उसे शीत युद्धकी वास्तविकतासे परिचित कराना था।

कहा जाता है कि १९५३ के अंतिम चरणमें संयुक्त राज्यके परराष्ट्र विभागका पाकिस्तानको सैनिक सहायता देनेके बारेमें समझौता हो चुका था और वह इस बातकी घोषणा करनेके लिये एक अनुकूल अवसर ढूँढ़ रहे थे, जिससे 'सहयात्री जवाहरलाल नेहरू'को एक झटका दिया जा सके। इतना अनुकूल अवसर खोजा जा रहा था, जिससे वह अपने आपको निःसहाय चूहेके समान समझकर सामान्य विरोधके पश्चात आत्मसमर्पण कर दें।

निश्चित रूपसे विचार यही था कि एशियामें भयंकर युद्ध-संकटकी स्थिति उत्पन्न करके, पाकिस्तानको भारी सनिक-सहायता देनेकी घोषणा कर दी जाय, ताकि उसका उपयोग काश्मीरमें हो सके और तब नेहरूसे यह पूछा जाय कि वे किस पक्षको 'स्वतंत्रतासे चुनना' पसंद करेंगे। उन्हें यह भी स्पष्ट बतलाना था कि 'गलत चुनाव' करने पर वे भारी मुसीबतमें पड़ जायँगे। जहाँ तक सामान्य कार्यक्रमका सम्बध था, यह दीख रहा था कि वीतनाममें विकसित होनेवाली गम्भीर स्थिति शायद निर्णायक कारण बन जाय।

पाकिस्तानी नेता, विशेष रूपसे इस्कंदर मिरजाके पिट्ठू और सेनाके प्रधान सेनापति, जनरल अयूब खाँको यह विश्वास दिला दिया गया था कि अनुकूल अवसर आने तक यह दुरभिसंधि प्रकाशित नहीं की जायगी, बल्कि सैनिक सहायता शीघ्रता-पूर्वक पहुँचाई जाने लगेगी। इस प्रकार गुप्तरूपमें पाकिस्तान उद्बोहनका कार्य करनेके लिये तैयार किया जा रहा था, जब कि इस नीतिके शिकार भारतको इस बातका तनिक भी भान नहीं था कि उसके विरुद्ध क्या तैयारियाँ हो रही हैं।

लेकिन इस योजनाकी सुरसुराहट मालूम पड़ने लगी थी। कहा जाता है कि पाकिस्तानसे जबरदस्ती बाहर निकाले जानेके कारण बर्तानियाँ सरकार अप्रसन्न थी और उन्होंने मामूली तौरसे यह इशारा कर दिया था कि इस प्रकारकी कुछ कार्यवाही हो रही है। इसका पुष्टिकरण नहीं हुआ था और वाशिंगटन स्थिति भारतीय दूतावास द्वारा दिल्लीको यह विश्वास दिलाया गया था कि यह सब गप है। सौभाग्यसे उस समय वी. के. कृष्णमेनन अमेरिकामें ही थे। उन्होंने दिल्लीको पुष्टिकरणकी सूचना दी। पुरानी कहावतके अनुसार बिल्ली बाहर आ गई थी, तथापि चूहोंको भी सतर्क रहनेकी सूचना मिल चुकी थी।

नेहरू इसे सुनकर हक्के बक्के नहीं वरन क्रोधित हुए। केवल थोड़े से "वॉशिंगटन भक्तों"को छोड़कर जो कहते थे कि "भारतने यही माँगा था," समस्त भारत-वासियोंके यही विचार थे। राष्ट्रकी दृष्टि अरक्षित पश्चिमोत्तरीय सीमाकी ओर घूम गई। मानसिक उलझनें दूर हो गईं। राजनैतिक विचारधारामें एक भारी झटका लगा।

सबसे पहले पाकिस्तानको एक मित्रतापूर्ण चेतावनी दी गई कि संयुक्त राज्यसे सैनिक-सहायता स्वीकार करनेसे काश्मीर तथा अन्य समस्याओंकी संपूर्ण पृष्ठभूमि और संदर्भ बदल जायगा, जिनके आधार पर अब तक इस विषयमें विचार-विनिमय हो रहा था। यह घटना २३ दिसम्बर १९५३ की है।

एक महीनेके उपरांत, २३ जनवरी १९५४ को भारतीय दृष्टिकोण कॉंग्रेस पार्टीके ५९ वें अधिवेशनके अवसरपर नेहरू द्वारा सभापतिके पदसे दिये जानेवाले भाषणमें अधिक स्पष्टतासे दिखलाई पड़ा। उन्होंने "देशकी ओर लक्षित चैलेंज" का मुकाबला करनेके लिए "राष्ट्रीय एकता" स्थापित करनेकी माँग की। उन्होंने पाकिस्तानके सामने "युद्ध न करनेकी संधि रक्खी"। संयुक्त राज्य अमेरिकासे उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि "भारत युद्धमें कोई भाग नहीं लेगा।"

फलस्वरूप संयुक्त राज्यका परराष्ट्र विभाग अशांत हो उठा। उन्होंने अत्यंत योग्यतापूर्वक जिस भयादोहक रणनीतिकी रचना की थी, वह लक्ष्यभ्रष्ट हो चुकी थी। संसारके सामने अब उनकी नासमझी प्रगट हो गयी थी, लेकिन उसका प्रत्यावर्तन

हो सकता था। पाकिस्तानकी सहायताके लिये वचनबद्ध होकर वे बहुत आगे बढ चुके थे।

एक महीने बाद २४ फरवरी १९५४ को राष्ट्राध्यक्ष आइसन हॉवरने नेहरूको इस दुर्भाग्यपूर्ण निर्णयकी सूचना दी, तथापि उन्हें यह विश्वास दिलाया कि इस सैनिक-सहायताका उद्देश भारतके विरुद्ध नहीं है। इस असंगत आश्वासनका उत्तर भारतीय प्रधानमंत्रीने १ मार्चको संसद्के सामने दिया। उन्होंने घोषणा की कि जो कदम उठाया जानेवाला है, उससे पाकिस्तानको भारतके विरुद्ध आक्रमण करनेका उत्साह और सहायता मिलेगी। भारत और संयुक्त राज्य अमेरिकाके बीच एक गहरी खाई बनती जा रही थी। क्या वह कभी पाटी जा सकती थी?

भारतीय नेतृत्वके सामने इस समय जो समस्या थी, वह कुछ इसी प्रकारकी थी। संयुक्त राज्यकी नीति द्वारा शीतयुद्ध इस उप-महाद्वीप तक आ चुका था। यदि उसे रोका न जाता तो वह एशियाके अदर संघर्षक्षेत्रका विस्तार करके एवं सैनिक आवश्यकताओंपर जरूरतसे ज्यादा बल देकर भारतीय आर्थिक विकासको नष्ट-भ्रष्ट कर सकता था।

अमेरिका द्वारा भारतकी मददके लिये किसी भी क्षेत्रमें आनेकी अब बहुत कम आशा थी। तटस्थता तथा सक्रिय तटस्थताको अब अधिक स्वीकारात्मक और निर्माणात्मक बनाना जरूरी था। पहलेकी तरह केवल सौदेबाजीके स्थानपर भारतको अब अपनी नीतिके मूल सिद्धांतरूप समाजवादी दुनियासे लाभकारी संपर्क स्थापित करना जरूरी था।

स्वभावतः पाकिस्तानपर सबसे पहले ध्यान न दिया जा सका। इसी समय यह सूचना प्राप्त हुई कि पाकिस्तानी फौजोंको बढ़ाकर उनकी संख्या १ करोड़ सुसज्जित सैनिक की जानेवाली है। ६ करोड़की जनसंख्यावाले देशके लिये यह संख्या असाधारण रूपसे बड़ी थी। और स्थल सेना बढ़ानेका अर्थ एक ही होता था अर्थात भारतके विरुद्ध अभियान! क्योंकि उसकी सीमायें भारतको छोड़कर और किसी देशके निकट भेद्य नहीं थीं। दूसरे शब्दोंमें काश्मीर, पंजाब और राजस्थानको खतरा था। उस समय बंगाल सुरक्षित था, क्योंकि करॉचीकी गणनामें पूर्वी पाकिस्तानकी सुरक्षा सम्भव न थी।

दोनों देशोंके क्षेत्रफलको देखते हुए यदि भारत भी किसी समानान्तर सेनाका निर्माण करता, तो उस सेनाका पाकिस्तानी फौजोंसे कमसे कम तिगुना होना जरूरी था। उस राष्ट्रके लिये, जो अपनी शक्ति शांतिपूर्ण आर्थिक प्रगतिके लिये संरक्षित करना चाहता हो, यह विचार कल्पनासे परे थे। नेहरूने बुद्धिमत्तापूर्वक राजनैतिक विचारधाराके ऊपर आयुधोंकी दौड़की कल्पना न करनेके लिये जोर डाला, क्योंकि इससे आर्थिक कठिनाई उपस्थित होती और अंतमें केवल साम्राज्यवादी युद्धनीतिके हितोंकी ही पूर्ति होती।

इसके अतिरिक्त समस्या इतनी निराशापूर्ण न थी जैसी कि मालूम पड़ रही थी। समयसे पूर्व ही सैनिक गठबंधनका भेद खुल जानेका, पाकिस्तानमें विद्यमान संघर्षकी दोनों पर्तोंपर भारी प्रभाव पड़ना निश्चित था। पहली पर्त थी राष्ट्रमंडलका भाग समझे जानेवाले क्षेत्रमें संयुक्तराज्यीय प्रवेशको रोकनेके लिये ब्रिटिश अवरोध। यह अवरोध अनेक कुटिल मार्गोंका आश्रय लेनेवाला था, लेकिन इतना निश्चित था कि लंदन अमेरिकन पृष्ठपोषित पाकिस्तान द्वारा भारतकी शांतिभंग होना कभी पसंद नहीं करता; क्योंकि भारतका रुख ब्रिटेनके प्रति मित्रतापूर्ण था और साथ ही साथ राष्ट्रमंडलीय भविष्यके लिये उसकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थी।

पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान या अन्य शब्दोंमें कहना चाहिये पंजाब और बंगालमें बढ़ता संघर्ष इसकी दूसरी पर्त थी और दिल्लीने इस ओर ध्यान दिया। पाकिस्तानमें बंगालियोंका बहुमत था, लेकिन शासनमें पंजाबियोंका प्रभुत्व था और वे ही अधिक शक्तिशाली थे। यहाँ भी संयुक्त राज्य अमेरिकाकी सहायतासे विग्रह बढ़नेकी सम्भावना थी। व्यवहारिक शब्दोंमें सहायताका अर्थ था, पंजाबी प्रधान पाकिस्तानी सेनाको अधिक शक्तिशाली बनाना, जिसे निशंक होकर सहन करनेके लिये पूर्वके बंगाली तैयार नहीं थे।

यद्यपि उस समय यह विचारधारा इतनी स्पष्ट नहीं थी, जसी कि ऊपर बतलाई गई है, परंतु भारत सरकारने इसका मौलिक सिद्धांत समझ लिया था। इसके विरुद्ध प्रतिआक्रमण नियोजित किया गया। ब्रिटिश सरकारको यह बात स्पष्ट बतला

दी गई कि भारतको यह आशा है कि वह पाकिस्तानमें, होकर किये जानेवाले संयुक्त-राज्यीय प्रयत्नों पर रोक रखेगा। इस कार्यमें असफल होनेका परिणाम भी ब्रिटेनको समझा दिया गया। इसी बीच काश्मीरमें स्थितिको अधिक सुदृढ़ किया गया। ६ फरवरीको जम्मू और काश्मीरकी विधानसभाने भारतमें स्थायी विलीनीकरण की घोषणा कर दी।

राष्ट्रसंघकी मध्यस्थताका निर्णय इस प्रकार उलटने पर पाकिस्तान बुरी तरह बिगड़ा और बौखलाया, लेकिन इसका परिणाम सभीको अच्छी तरह दिखलाई दे रहा था। भारत इस भयादोहनके सामने झुकनेके लिये तैयार नहीं था और आवश्यकता पड़नेपर संयुक्त राज्यके परराष्ट्र विभाग द्वारा प्रभावित राष्ट्रसंघसे सहयोग करना अस्वीकार कर सकता था। आश्चर्यजनक बात यह थी कि पाकिस्तानको दिये जानेवाले इस झटकेसे ब्रिटिश दफ़्तरशाही भी पूर्ण संतुष्ट थी।

और उसके उपरांत अनेक नई प्रवृत्तियाँ सामने आईं, जिनका उदय संयुक्तराज्य एव पाकिस्तानके मध्य हुए सैनिक समझौतेसे ही हुआ, यद्यपि वे असंबंद्धित प्रतीत होती थीं। पुर्तगाली और फ्रांसीसी बस्तियोंका प्रश्न पुनः प्रकाशमें आ गया।

भारत सरकारने अच्छी तरह समझ लिया कि छोटे स्थल भी संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा भयादोहन और अवरोध उपस्थित करनेके लिये प्रयोगमें लाये जा सकते हैं। पुर्तगाल तो वाशिंगटन पर लगभग आश्रित ही था। जहाँ तक फ्रांसका प्रश्न था, वह भी वीतनाम युद्धमें संयुक्त राज्यीय सहायताके प्रतिदान स्वरूप इस गंदे खेलको खेलनेके लिये बाधित किया जा सकता था।

बहुत काल तक नियंत्रित रक्खी जानेवाली फ्रांसीसी बस्तियोंके निवासियोंको आगे बढ़नेका संकेत मिल गया। २१ अक्तूबर १९५४ तक पांडीचेरी, कारीकल, चंद्रनगर, माहे, यनाममें फ्रांसीसी झंडा झुका दिया गया। दिल्ली और पेरिसमें होनेवाले समझौतेके फलस्वरूप इनका सत्तासिद्ध शासन भारतके सुपुर्द कर दिया गया, यद्यपि चंद्रनगर तो बहुत पहले ही भारतमें विलीन हो चुका था।

तथापि गोत्रा, डामन, इयू और दादरा नामक पुर्तगाली वस्तियोंमें परिस्थिति अधिक उलझी हुई थी। पुर्तगाली इन छोटे स्थानोंको छोड़नेके लिये तैयार नहीं थे और स्वाभाविक रूपसे भारत सरकार ऐसे समय पुलिस कार्यवाही करनेमें हिचक रही थी, जब कि सरकारी नीति शांतिपूर्ण समझौतोंके पक्षमें हो।

इसी बीच अन्य घटनाओंने भारतके नये दृष्टिकोणको सुप्रकाशित कर दिया। १९५४ से प्रारम्भिक भागमें वीतनाममें फ्रांसीसी स्थिति तीव्रतासे बिगड़ने लगी। सुविज्ञ सूत्रों द्वारा दिल्ली पहुँचनेवाले समाचारोंसे यह प्रगट हुआ कि संयुक्तराज्य अमेरिका मुक्ति आंदोलनका पासा पलटनेके लिये अणुशस्त्रोंको प्रस्तुत करके फ्रांसको इस बातपर विवश कर रहा है कि वह इन क्षेत्रोंमें अपना प्रभुत्व कायम रखनेका संघर्ष जारी रखे।

नेहरूने सार्वजनिक और निजी दोनों प्रसारसे यह स्पष्ट कर दिया कि इस ढंगकी दुःसाहसिक नीतियोंके विरुद्ध एशिया संगठित हो जायेगा और भारत तथा चीनको इन प्रयत्नोंके निराकरण हेतु आवश्यक कदम उठानेसे संसारकी कोई भी शक्ति नहीं रोक सकेगी। ब्रिटिश और फ्रांसीसियोंमें प्रतिक्रिया हुई। उन्हें एशियाका अच्छा अनुभव था और इस कारण वे अच्छी तरह समझ गये कि इस प्रकारके समझौतेका क्या परिणाम हो सकता है और एक एक कदम करके २६ अप्रैल १९५४ को सुदूर पूर्वकी समस्यापर विचार विमर्श करनेके लिये इतिहास प्रसिद्ध जिनेवा सम्मेलनका आयोजन हुआ।

यह प्रयत्न राष्ट्रसंघके बाहर हुआ था और इस प्रकारकी अंतर्राष्ट्रीय बैठकमें जन-चीनने पहली बार भाग लिया। संयुक्त राज्य अमेरिकाने इस प्रस्तावका विरोध किया, लेकिन वे इस बैठककी आयोजनाको नष्ट न कर सके, क्योंकि यह संसार व्याप्त शांतिकी आवश्यकताके अनुरूप प्रयत्न था।

इस सम्मेलनका आयोजन भारतीय कूटनीतिकी महान विजय थी; इतनी महान कि संयुक्त राज्य अमेरिकाकी चालाकियों द्वारा उसे सम्मेलनमें होनेवाले वादविवादमें भाग लेनेसे वंचित किया गया। पूर्वकालकी तरह इस अपमानको नहीं पचाया

जा सका। अतः भारत, हिंदेशिया, ब्रह्मा, पाकिस्तान और श्री लंकाके मध्य कोलम्बो नामक स्थानपर एक बैठक करनेका आधार प्राप्त हुआ।

जिनेवा सम्मेलन आरम्भ होनेके २ दिन पश्चात होनेवाली इस बैठकके अनेक प्रयोजन थे, जो अनेक रूपोंमें परस्पर गुंथे हुए थे। भारत, ब्रह्मा और हिंदेशियाका दृष्टिकोण समान था और वे साम्राज्यवादी दवाव और अतिक्रमणका सामना करनेके लिये एशियायी एकता स्थापित करनेमें सहायता करनेके इच्छुक थे। जहाँ तक श्री लंकाका प्रश्न है, वह अपने अस्तित्वका ही ज्ञान कराने की इच्छा रखता था।

लेकिन पाकिस्तान द्वारा बैठकमें भाग लेनेका निर्णय महत्वपूर्ण था। निःसंदेह पाकिस्तानके नये प्रधान मंत्री मुहम्मदअलीका विचार था कि वे अपने नये मित्र अर्थात संयुक्त राज्यके परराष्ट्र विभागको उत्तेजित करनेका कार्य करेंगे। तथापि इस प्रकारकी स्वतंत्र मंडलीमें सम्मिलित होनेका वास्तविक कारण पूर्वी पाकिस्तानके सामान्य निर्वाचनोंका निराशापूर्ण परिणाम मालूम पड़ता है। सत्तारूढ़ पार्टी अर्थात मुस्लिमलीगका अस्तित्व उस देशसे लगभग मिटा डाला गया था। उसके स्थान पर एक नयी अपरीक्षित यूनाइटेड फ्रंट पार्टी प्रतिष्ठित हो गई थी, जो पाकिस्तानकी गृहनीति और विदेशी नीतिसे प्रसन्न नहीं थी। प्रधानमंत्री मुहम्मदअली ऐसी अस्थिरतापूर्ण परिस्थितिमें अपने सभी दांव समाप्त नहीं कर देना चाहते थे।

कोलंबोमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणवाले पाँच राष्ट्रोंने मिलकर एशियाके असंगठित लोगोंके लिये तटस्थता और स्वतंत्रताकी नीति निर्धारित कर डाली।

वादविवादके दरम्यान उनका लगभग उतना ही प्रकाशन हुआ, जितना जिनेवा सम्मेलनका हो रहा था। यद्यपि पाकिस्तान और श्री लंकाके प्रतिनिधियोंके मुँह स्वतंत्रताकी बात कुछ अजीब-सी मालूम पड़ती थी, जब कि उन्होंने स्वयं अपनेको कुछ अंशों तक बंधनमुक्त बना डाला था, लेकिन अंतरिम कालमें एशिया ऐसी अनेक विशेषतायें उपस्थित करना चाहता था।

जैसे जैसे कोलंबो शक्तियोंके विचार सामने आने लगे, उसमें भारत, ब्रह्मा और हिंदेशियाके दृष्टिकोणका प्रभाव स्पष्टतर होता दिखलाई पड़ा। लेकिन उन दिनों इस घटनाका महत्व और उसकी सार्थकताका पूरी तरह मूल्यांकन न हो सका।

जिनेवा सम्मेलनको विशेष रूपसे वीतनामके प्रश्नपर अनेक उत्थान-पतनोंका सामना करना पड़ा, लेकिन प्रगति सतत और नियमित रही। जब फ्रांसके प्रधानमंत्री लेनियलने, संयुक्तराज्य अमेरिकाकी सहायता द्वारा शांतिपूर्ण समझौतेमें अड़चन डालनेके उद्देश्यसे सम्मेलनके वहिष्कारका विचार किया, तव फ्रांसने पियरे मेंडेस फ्रांस नामक नये प्रधानमंत्रीको चुनकर जिनेवा भेज दिया। उन्होंने चीनके प्रधानमंत्री चू–एन–लीसे बातचीत की और इस प्रकार समझौतेका मार्ग खुल गया। ११ अगस्त तक एशियाके एक अन्य संत्रस्त भूभागपर लगभग आठ वर्षके युद्धके उपरांत बंदूकें स्थायी रूपसे मौन कर दी गईं।

लेकिन संसारकी अप्रकट विचारधारा संयुक्त राज्यीय नीतिकी नपुंसकतापर अभी अपना ध्यान केन्द्रित भी न कर पाई थी कि एक नये नाटकीय परिवर्तनकी सूचना फैल गई। जिनेवामें सफलता प्राप्त करनेके उपरांत अपने देशको लौटते समय चू–एन–ली, जवाहरलाल नेहरूसे विचार-विनिमय करनेके लिये वायुमार्गसे दिल्ली पधारे।

सामान्यतया इसे एक सहज घटना समझा जाता। क्या भारतने जन चीनके प्रश्नका राष्ट्रसंघमें समर्थन न किया था? और क्या भारतने जिनेवा सम्मेलनमें व्याप्त मतभेदके कारणोंको दूर करनेमें सहायता न दी थी? क्या भारतने शांतिके पक्षका जोरदार समर्थन न किया था? और इसके अतिरिक्त लम्बे विचारविनिमयके पश्चात भारत और चीन द्वारा हस्ताक्षरित तिब्बतविषयक संधि भी दोनों प्रधानमंत्रियोंकी भेंटका कारण हो सकती थी।

लेकिन एशियाने इन तर्कोंके बारेमें नहीं सोचा। वह इस विचारसे ही आतंकित हो उठा कि एशियाकी दो हस्तियाँ आपसमें मिल रही थीं। अब इस बातकी पूरी आशा थी कि इस परस्पर मिलनके परिणाम स्वरूप साम्राज्यवाद अकेला पड़ जायगा और औपनिवेशिक बंधनोंसे मुक्ति पानेवाले आंदोलन जोर पकड़ने लगेंगे। संसारकी १०० करोड़ जनसंख्याके प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर मित्रताके बंधन अधिक दृढ़ करनेका प्रयत्न कोई साधारण बात न थी।

एशियाको निराश होनेका कोई कारण न था। चू-एन-ली २५ जूनको दिल्ली आये और उनका इतना भारी आतिथ्य-सत्कार हुआ, जितना किसी विदेशी राजनीतिज्ञका अब तक न हुआ था। और थोड़े समयके ही अन्दर पंचशीलके महान सिद्धांतोंकी घोषणा हुई। चीन और भारतने मिलकर संसारके सामने सह-अस्तित्वके पाँच मौलिक सिद्धांतोंकी घोषणा की, जिसके आधार पर राष्ट्रोंमें सहयोग और शांति स्थापित की जा सकती थी।

प्रत्येक ईमानदार तथा समझदार विचारधाराके सम्मिलन स्थल बननेवाले ये पाँच सिद्धांत क्या थे।

(१) परस्पर एक दूसरेकी क्षेत्रीय अखंडता और सार्वभौमताका आदर (२) अनभ्याक्रमण (३) एक दूसरेकी आंतरिक समस्याओंमें हस्तक्षेप न करना (४) समानता और परस्पर सहायता (५) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

हालां कि यह निरर्थक सिद्धांत अशक्त प्रतीत होते थे, लेकिन वर्तमान विस्फोटक परिस्थितिमें यही निरर्थक सिद्धांत सक्रियताके गत्यात्मक पथ-प्रदर्शक बन गये। इस कारण इसमें कुछ आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि साम्राज्यवादी शक्तियोंने इस घोषणाका उपहास किया। इसके अतिरिक्त वह कर ही क्या सकते थे! जो भूमि उनकी नहीं रही थी, उनपर प्रवेश करनेकी वैधता अब वे किस प्रकार प्रमाणित कर सकते थे।

शासित जनताके लिये "पंचशीलका सिद्धांत" औपनिवेशिक बंधनोंसे मुक्ति पानेका सिद्धांत था। जिन्हें युद्धका डर था, उनके लिये यह शांति सथपित करनेका एक साधन था और साथ ही सामान्यतम नागरिकोंको शांतिपूर्ण प्रगतिके लाभ दिलानेका आश्वासन देता था।

अब तक सह-अस्तित्वको समाजवादी संसारने अपनी नीतिका मौलिक तत्त्व घोषित कर रक्खा था। कुछ लोग साम्यवादी संसर्ग दिखलानेके लिये इस सिद्धांतको कथनके रूपमें प्रस्तुत करते थे, लेकिन अब यह सिद्धांत कथन-वाक्योंसे मुक्त होकर विश्वकी बहु संख्यक जनताका मिलन-बिंदु हो गया।

भारत और चीनने इन पाँच सिद्धांतोंके आधारपर अपने सम्बध कायम करके सहअस्तित्वको स्थान प्रदान किया। जैसा कि सर्व विदित है, इन सिद्धांतोंका प्रथम बार प्रयोग तिब्वत विषयक संधिमें हुआ। अव इन दोनों देशोंके बीच सभी प्रकारके सम्बंधोंका आधार वन जानेपर उन्होंने सांस्कृतिक व्यापारिक संपर्क तथा एक दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका पथ प्रशस्त कर लिया।

भारत और चीनने इस बातका प्रण किया कि वे एक दूसरेसे शिक्षा ग्रहण करेंगे और संसारके सामने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करेंगे, जिसका अनुसरण वे आसानीसे कर सकें। ब्रह्माने भी इसी प्रकारकी घोषणापर हस्ताक्षर कर दिये और तत्काल ही एशिया तथा अफ्रीकाई देशोंका एक सम्मेलन बुलानेपर गंभीरताके साथ विचार होने लगा। पंचशील ही उनको एक स्थान पर खींचकर लानेवाला चुंबक हो सकता था और इसीके द्वारा जाति, रंग, धर्म, विचार, राजनैतिक व्यवस्थामें अंतर होनेके बावजूद भी शांति हेतु मित्रता सुदृढ़ की जा सकती थी। नवोदित राष्ट्रोंको अपनी उन्नति और स्वतंत्रताको सुदृढ़ करनेके लिये वास्तविक शांतिकी आवश्यकता थी।

पंचशीलका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये १५ अक्टूबरको नेहरू दक्षिण–पूर्वी एशिया तथा चीन-भ्रमणके लिये निकल पड़े। उनकी इस यात्राका परिणाम विस्तृत और गंभीर होना निश्चित था। भारत और चीनके बीच बढ़ते हुए मित्रतापूर्ण सम्बंध ही वह केन्द्र बिन्दु थे, जिनको आधार बनाकर एशियायी एकता और सौजन्यताका संघीयकरण हो सकता था। नेहरूकी चीन यात्रा और वहाँकी मित्रता और प्रेम प्रदर्शनने एशियायी इतिहासमें एक नया अध्याय जोड़ दिया।

वर्षांत कोलंबो शक्तियाँमें हिन्देशियाके बोगर नामक स्थानपर मिलीं। उन्होंने एकमत होकर यह निश्चय किया कि एशिया अफ्रीकाई देशोंका एक सम्मेलन बुलाया जाय, जिसमें जन चीन भी उपस्थित हो। राजनैतिक घटनाओंका सामान्य द्रष्टा इस घोषणाका केवल एक ही अर्थ निकाल सकता था अर्थात उपनिवेशवादका अंत, साम्राज्यवादकी रक्षित शक्तिका अंत, उस युगका अंत जिसमें श्वेतांगप्रभु एशिया और अफ्रीका वासियोंको गुलाम बनाकर परिपुष्ट हुए थे।

अफ्रीकाको इसमें सम्मिलित करना स्वाभाविक था ।.उस समस्त महाद्वीप पर अपना नियंत्रण बनाये रखनेके लिये साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा नृशंसतम साधन अपनाये जा रहे थे । एशिया उनके हाथोंसे निकलता जा रहा था और इस कारण अफ्रीकापर अपना आधिपत्य कायम रखनेके लिये उन्होंने कोई साधन न छोड़ा ।

फ्रांसीसियोंने उत्तरी अफ्रीका वासियोंका कत्लेआम किया । ब्रिटेनवासियोंने केनियांके मूल निवासियोंको जीवन-मुक्ति देनी शुरू कर दी। अमेरिकनोंने, जिन्होंने इन्हीं तरीकोंसे अपना राज्य स्थापित किया था, पश्चिमी एशियाके तैलक्षेत्रमें राजद्रोह और हत्यायें कराकर प्रविष्ट होनेका प्रयत्न किया ।

वास्तविकता यह थी कि अफ्रीकामें जहाँ कहीं श्वेतांगोंका प्रभाव था, ईश्वरके प्रतिनिधिके रूपमें उन्होंने वहाँ चलकर इस प्रकारके जीवन यानपका उपदेश दिया जिसमें रंगीन चमड़ीवाले अपने मौलिक अधिकारोंसे भी वंचित रह जाये । एशिया आर अफ्रीकाके अभिन्न मित्र होनेकी बात समझनेके लिये किसी गहन अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है ।

१९५४ में समस्त भारतमें ब्रिटिश विरोधी विचार पनप रहे थे और यही विचार समस्त औपनिवेशिक संसारमें अनेक रूपोंसे नवीन स्वतंत्र भावनाओंको संगठित करनेका नेतृत्व कर रहे थे । ये भावनायें, हमारे विचारों और कार्यों पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थीं । दूसरे शब्दोंमें, पाकिस्तान तथा अन्यत्र होनेवाले साम्राज्यवादी षड़यंत्रोंसे उत्पन्न निराशाके परिणाम स्वरूप देश-भक्तिसे परिपूरित राष्ट्रीय भावनाओंकी लहर दौड़ने लगीं और उसने उन नीतियोंको जन प्रिय बना दिया, जिनसे भारत अपने पैरोंपर खड़े होकर भविष्यमें भयादोहन और दबावके नये प्रयत्नोंसे अपनी रक्षा कर सकता था ।

प्रथम बार भारत सरकार समाजवादी दुनियांसे व्यापार करनेकी सम्भावना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगी, जिस व्यापारका अर्थ अपनी अर्थव्यवस्थामें सुधार करना था । ऐसे संबंधोंके लिये इससे अच्छा कौन-सा समय हो सकता था ।

सोवियत संघमें मलेनकोवकी नीतिकी आलोचना होने ही लगी थी। उन्होंने भारी औद्योगिक उत्पादनके स्थानपर उपभोक्ता वस्तुओंके उत्पादन पर जोर डाला था। यह ऐसी नीति थी जो लागू होनेके उपरांत सोवियत संघ द्वारा अविकसित देशों और विशेष रूपसे जन चीनको सहायता देनेकी क्षमता कम कर देती। सोवियत अर्थशास्त्री तर्क कर रहे थे कि विदेशोंके औद्योगिक उपस्करों की आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये और सोवियत वासियोंके जीवनस्तरको अधिक ऊँचा उठानेके लिये आवश्यकता है कि औद्योगिक विस्तार किया जाय न कि उसे कम किया जाय।

बुलगानिन और ख़ुश्चेवके चीन यात्रासे लौटनेके परिणाम स्वरूप वादविवाद उत्कर्ष शिखरपर पहुँच गये। वहाँकी औद्योगिक उपस्करोंकी तत्कालीन आवश्यकता तथा 'परिस्थित ज्ञान' ने उनके ऊपर भारी प्रभाव डाला था। यह स्पष्ट था कि चीनकी आवश्यकताओंको पूरा करना पड़ता। सोवियत संघके दृष्टिकोणमें आनेवाले परिवर्तनके सभी चिन्ह १९५४ के अंतिम दिनोंमें स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे थे।

फरवरी १९५५ तक मलेनकोवने बुलगानिनके लिये जगह कर दी। अर्थ-शास्त्रियोंने इन परिवर्तनोंका ठीक ही विवेचन किया था कि यह सोवियत संघका अविकसित क्षेत्रोंको परस्पर लाभकी शर्तोंपर सहायता देनेके महान प्रयत्नोंका प्रारम्भ है। यह वह नीति थी, जिससे अमेरिका अनिश्चयमें पड़ जाता।

सोवियत संघसे एक इस्पात बनानेकी मशीन प्राप्त करनेके बारेमें भारतने प्राथमिक प्रयत्न तो पहले ही कर लिये थे। इस कदमका भारी विरोध हुआ था। देशके प्रमुख व्यापारियोंको समाजवादी दुनियांसे व्यापार करनेके परिणाम समझाते देर न लगी। विद्युत गतिसे बिड़ला ब्रिटिश इस्पात निर्माताओंके पास सौदा पटानेके लिये पहुँचे। जिन्होंने पहले किसी प्रकारकी सहायता देना अस्वीकार कर दिया था, अब वे तैयार थे। लेकिन भारत सरकार तैयार नहीं थी, हालांकि टी. टी. कृष्णामाचारी जैसी कुछ सदस्योंने बिड़लावाले सौदेको स्वीकार न करनेकी स्थितिमें त्यागपत्र देनेकी धमकी दे दी थी।

नेहरूके कट्टर समर्थक योग्य आधुनिक वादी रफी अहमद किदवईने इस परि-स्थितिसे निकलनेका रास्ता यह माँग करके ढूँढ निकाला, कि सरकारको अपनी

१६४८ में घोषित औद्योगिक नीतिका पालन करना चाहिये। बहुत कालसे भुलाये इस कागजको प्रकाशित किया गया। इस्पात सार्वजनिक क्षेत्रकी वस्तु बतलाई गई। यह तय हुआ कि इस दिशामें की जाने वाली प्रगतिके लिए सरकार उत्तरदायी है। सारे देशने इस पुनः प्रकाशित औद्योगिक नीतिका भारी समर्थन किया और फलतः गम्भीरता पूर्वक आर्थिक समस्यापर विचार करनेका मार्ग प्रशस्त हो गया।

पिछले कुछ दिनोंसे कई विदेशी अर्थशास्त्री भारतीय सांख्यकी संस्था कलकत्तामें पी. सी. महालनोबिसके निर्देशनमें द्वितीय पंचवर्षीय योजना पर विचार विनिमय करनेमें व्यस्त थे। वे लोग संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और पोलेंडसे आये थे। यह एक अजीब टीम थी। इसके सदस्य पूंजीवादी और समाजवादी दोनों दुनियासे आये थे, लेकिन वे इस धारणामें एकमत थे कि केवल कुशलतापूर्वक तैयार की हुई वैज्ञानिक-विकास योजना ही भारतको दरिद्रताके ऊपर उठा सकती है।

उनका कार्य अद्वितीय था। उन्हें एक ऐसी योजना गढ़नी थी, जिसमें राज्य नियंत्रित तीव्र आर्थिक प्रगतिके साथ ही साथ भारतीय निजी व्यापार और उद्योगके हितोंकी रक्षा हो सके। आर्थिक योजनाकी प्रयोगशालामें भारतीय वर्गोंके पंक्ति बन्धनका यह विशेष रूप अपनाया गया था।

सोवियत संघके इस्पात कारखाने के प्रस्ताव और रफीअहमद किदवईके सार्वजनिक क्षेत्रके जोरदार समर्थनसे विकसित होनेवाली आर्थिक प्रवृत्तियोंके कारण यह कार्य अधिक सरल हो गया। वास्तवमें भारतकी भारी क्षति तब हुई जब कि २४ अक्टूबर १६५४ को अकस्मात इस असाधारण व्यक्तिने शरीर त्याग दिया। नेहरू अभी चीनमें ही थे। उन्होंने ऐसे शक्तिशाली प्रचारकको खो दिया, जो उनके भारत लौटनेके उपरांत बहुमूल्य प्रमाणित होता।

भारत लौटकर चीनकी प्रगतिसे प्रभावित प्रधानमंत्री नेहरूने यह निर्णय किया कि देशके सामने समाजवादी गठनका लक्ष्य उपस्थित करनेका समय आ गया है। बड़े व्यापारिक क्षेत्रोंमें व्याप्त भयपर ध्यान देकर उन्हें विश्वास भी दिलाना था। वे हवाका रुख पहचानते थे। लेकिन भारतीय वामपक्षियोंके साथ

यह बात नहीं थी। उन्होंने प्रजातांत्रिक साधनोंसे "वर्ग, जाति-हीन" समाजवादी समाजको प्रतिष्ठित करने विषयक २१ दिसम्बरकी सरकारी घोषणाका "पाखंड" कह कर मखौल उड़ाया।

लेकिन यदि साम्राज्यवादी नीतियोंसे बढ़ते हुए मतभेदोंके उपरांत कॉंग्रेसी आर्थिक विचारधारामें होनेवाले परिवर्तनों पर ध्यान दिया जाता, तो उनके दावे उतने भ्रमपूर्ण और दंभपूर्ण प्रतीत होते। "सहकारी समानतंत्र," "मिश्रित अर्थ-व्यवस्था" और "कल्याणकारी राज्य" के स्थान पर कॉंग्रेसपार्टी अब "समाजवादी" शब्दका प्रयोग करने लगी थी। जो अब तक पूँजीजीवियोंका अधिकतम अनादृत शब्द था।

यद्यपि 'समाजवाद'से कॉंग्रेसका तात्पर्य उस समाजसे नहीं था, जिसके लिये साम्यवादी पार्टीने अपनेको समर्पित कर रखा था, न इसका अर्थ मजदूरोंके जनतंत्रकी स्थापना थी। इरादा यह था कि इस प्रकारके मिश्रित समाजका निर्माण हो जिसमें परस्पर विरोधी विचारों और व्यवहारोंका मिश्रण हो सके। लेकिन नये नारेको 'पाखंड' की संज्ञा देकर उसकी मखौल उड़ाना एक महती भूल थी। कॉंग्रेसी विचारधाराकी यह नई प्रगति थी, ऐसी प्रगति जिसके परिणाम स्वरूप देशमें अधिक परिवर्तन निश्चित थे।

१९५५ के आरम्भमें भारतमें जनताका ध्यान दो महत्त्वपूर्ण घटनाओंकी ओर केन्द्रित था। आंध्रके चुनाव तथा अवाड़ीमें कॉंग्रेस पार्टीका साठवां अधिवेशन। अपने अधिकार क्षेत्रमें दोनों बातें महत्त्वपूर्ण और परस्पर सम्बंधित थीं।

नव निर्मित आंध्र प्रदेशमें प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्रके अंदर कॉंग्रेसका सामना साम्यवादी पार्टीसे था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी। भारतीय साम्यवादी पार्टी विश्वासपूर्वक अपनी विजयकी भविष्यवाणी कर रही थी और उसके आत्म-विश्वासके विरुद्ध कांग्रेसी शिविरोंमें निराशा व्याप्त थी।

इन दोनोंमें अवाड़ी अधिवेशन पहले हुआ। पार्टीने आश्चर्यजनक एकताके साथ अपना आदर्श 'समाजवादी ढंगका समुदाय' निर्धारित किया। यूगोस्लेवियाके

राष्ट्राध्यक्षने अतिथि रूपसे इसमें भाग लिया था। यह सच है कि 'समाजवाद' समाजवादी बना दिया गया था। यह भी सच है कि 'ढंगका समुदाय' मुहावरेका प्रयोग हुआ था। समाजवादके परिचित शत्रुओंने नये नारेको भी विरोधका साधन बनाया और यह भी सच है कि भारतीय समाजवाद और अन्य प्रकारके समाजवादोंमें अंतर दिखानेके भारी प्रयत्न किये गये। यह सब बातें तथा इसके अतिरिक्त भी अनेक दलीलें इस शब्दकी उपयुक्तताके बारेमें संदेह दिखलानेको रखी जा सकती हैं। तथापि कुछ ही सप्ताहोंके अंदर सभी समाचारपत्र, रेडियो और अन्य प्रचारात्मक साधन इस समाजवादी ढंगका यश गानेमें जुट गये।

समस्त देशके नरनारी उन पुस्तकोंमें समाजवादके बारेमें पढ़ने लगे, जिन्हें किसी भी साम्यवादीका अनुमोदन मिल जाता। सरकारी कर्मचारी भी अब समाजवादी साहित्य पढ़ सकते थे। ऐसा कार्य पूर्व कालमें समस्त गुप्तचर विभागका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता और इस प्रकार भारतने अनेक प्रकारसे समाजवादपर विचार करना प्रारम्भ कर दिया।

आंध्रमें काँग्रेसके चुनाव प्रचारने जोर पकड़ा। नेहरूने वहाँपर दौरा किया। उन्होंने लोगोंको बतलाया कि उन्होंने भारतकी गहरी जमी हुई साम्राज्यवाद-विरोधी परंपराओंपर आधारित एक ऐसी विदेशी नीति दी है, जिसका सभी जगह आदर होता है। उन्होंने बतलाया कि यह वही नीति है जिसके बारेमें साम्यवादी चिल्लाया करते थे कि मैं उसका ईमानदारीसे पालन नहीं करूँगा। क्या मैंने उनकी मिथ्या-धारणाको प्रमाणित नहीं कर दिया है?

गृह समस्याओंके बारेमें उन्होंने अवाड़ी अधिवेशनका महत्त्व लोगोंको समझाया। उन्होंने अपने समाजवादी विचारोंके बारेमें होनेवाले साम्यवादियोंके उपहासका जिक्र किया। वे कहने लगे कि इसी प्रकारकी बातें वे लोग उनकी विदेशी नीतिके बारेमें किया करते थे। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें जो कुछ कर दिखाया, वही वह गृहक्षेत्रमें कर डालेंगे। वे अपना वायदा पूरा करेंगे। इसके बाद उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उनकी सरकार भारतमें दस वर्षके अंदर समाजवादको प्रतिष्ठित कर देगी।

इसकी प्रतिक्रिया तत्काल हुई। उनका प्रचार जोर पकड़ने लगा। 'प्रवदा' के संपादकीय लेखोंका भी यह प्रमाणित करनेके लिये कॉंग्रेसने उपयोग किया कि भारतीय साम्यवादी क्रेमलिनसे दो कदम आगे बढ़ गये हैं और इस प्रकार बड़ी कुशलतापूर्वक, मध्यमवर्गको भी अपने पक्षमें कर लिया। अंतमें जब चुनाव हुए तो कॉंग्रेस साम्यवादी पार्टीको उन्हींके सुदृढ़ गढ़में बुरी तरह हराकर विजयी बनी।

सरकारी क्षेत्रोंमें बड़ा आनन्दोल्लास मनाया गया, लेकिन एक बातकी उपेक्षा न की जा सकी। साम्यवादियोंको कुल मतोंके ३० प्रतिशतसे अधिक मत प्राप्त हुए थे। यदि कॉंग्रेसके विरुद्ध १० प्रतिशत मत और पड़ जाते तो परिणाम इसके बिलकुल विपरीत होता अर्थात साम्यवादी आंध्रका निर्माण हो गया होता। यह एक ऐसा डंडा था, जो भारतीय पूँजीजीवियोंको बांई ओर चलानेके लिये तब तक बाधित कर सकता था, जब तक कि प्रजातांत्रिक ढंगसे मतदान सम्भव बना रहे। भारत सरीखे पिछड़े देशमें आर्थिक समस्याओंको सुलझानेके लिये इससे अधिक अच्छा मौका और कौन-सा हो सकता था, क्योंकि न तो उन्हें टाला जा सकता था और न स्वाभाविक निर्णयोंकी बाट देखी जा सकती थी।

कॉंग्रेसके इतिहासमें अवाड़ी अधिवेशनको सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युगांतर चिन्ह बतलाना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। पूर्वकालमें कॉंग्रेसके अंदर विद्यमान अनेक वामपंथी गुटोंके निरंतर दबावके परिणाम स्वरूप समाजवादी उपचार सुझाया गया था। १९५५ तक कॉंग्रेसके अंदर ऐसा कोई गुट शेष न रह गया था, तथापि केवल उन्मूलनवादी विचारधाराने ही नहीं, वरन् वामपंथी विचारधाराने भी प्रधानता प्राप्त कर ली।

यह परिवर्तन किस प्रकार हुआ? हम पहले देख चुके हैं कि अखिल भारतीय पूँजीजीवियों और क्षेत्रीय मध्यम वर्गीय पूँजीजीवियोंके हितोंका वैषम्य किस प्रकार लगातार बढ़ रहा था। हम देशकी भाषिक पुनर्रचनाकी पृष्ठभूमिमें कार्यरत आर्थिक प्रवृत्तिको भी देख चुके हैं, जिनका जन्म मध्यम वर्गीय पूँजीजीवियोंकी वर्गीय आवश्यकताओंमें हुआ था। और हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार साम्राज्यवादी

नीतिका विरोध जैसे जैसे सामने आता गया, वैसे ही वैसे इन सभी प्रवृत्तियों और प्रति प्रवृत्तियोंने परस्पर एक दूसरे पर अपना प्रभाव डाला।

अवाड़ी अधिवेशनके पश्चात मध्यम पूँजीजीवियोंके विचारोंको प्रधानता प्राप्त होना प्रारम्भ हुई। उन्होंने यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया कि यदि काँग्रेस जनतामें अपना नेतृत्व कायम रखना चाहती है, तो इसकी एक मात्र आशा समाजवादी उपचार ही है। उन्होंने भारतीय समाजवादके तथाकथित प्रजातांत्रिक अंशको केवल इसी कारण रेखांकित किया कि जिससे बड़े व्यापारिक हितोंको ही नहीं वरन मध्यम वर्गके व्यापारिक हितोंको भी विश्वास प्राप्त हो सके, क्योंकि वे भी निजी लाभके क्षेत्रमें राज्य हस्तक्षेपकी शक्तिसे डरते थे।

लेकिन उस क्षण इस महत्त्वपूर्ण तत्त्वको आसानीसे भुला दिया गया कि "समाजवादी" शब्द बड़े पूँजीजीवियोंकी प्रधान आर्थिकशक्ति पर रोक लगानेका ही साधन है, जिसके परिणाम स्वरूप उन दिशाओंमें प्रगति करनेमें सहायता मिलेगी जिससे मध्यम पूँजीजीवियोंका भला हो सके।

वर्तमान प्रयत्न इतने मर्मज्ञतापूर्ण हैं कि इस बातका आश्वासन दिलाया जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्रका प्रवेश केवल उन्हीं दिशाओंमें होगा, जहाँ निजी प्रयत्नोंसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होनेकी सम्भावना न हो। इसका अर्थ हुआ कि भारी उद्योगोंकी उन्नति राज्य अपने हाथमें ले लेगा। यही वह क्षेत्र है जिसे बड़े पूँजीजीवी स्वयं नियंत्रित करना पसंद करते।

इस दिशाकी ओर अग्रसर होनेमें संयम आवश्यक है। डर भी है। यह संक्रमणके ही तत्त्व हैं, विशेष रूपसे जब कि पूँजीजीवियोंका एक गुट समाजवादके साथ क्रीड़ा कर रहा हो और कुछ समय तक अपनेही हितके कारण उसके बारेमें पूर्ण रूपेण ईमानदारी बरतना चाहता हो। केवल नेत्रहीन व्यक्ति ही सरकसकी संज्ञा देकर अवाड़ीकी उपेक्षा कर सकता है।

इस नये दृष्टिकोणका प्रभाव अब तक न सुलझाये जा सकनेवाले भूमि विषयक प्रश्नपर अत्यधिक पड़ेगा। सामंतवादी जमींदारीको वैधानिक रूपसे समाप्त किया जा

रहा है, लेकिन निरंतर बढ़ते औद्योगीकरणके समय जमींदारोंकी पकड़का किस प्रकार सामना किया जाय, कॉंग्रेसके नेता इसे टालनेका कितना ही प्रयत्न करें, लेकिन इस समस्याकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उद्योग और कृषि एक दूसरेके पूरक होने ही चाहिये, अन्यथा आर्थिक सर्वनाश अवश्यंभावी है। अवाड़ी समाजवादको यह बात गांठ वांध लेनी चाहिये। लेकिन इसके सम्बंधमें आगे, अन्यत्र बतलायेंगे।

अब हम अन्य समसामयिक घटनाओंकी ओर ध्यान देते हैं, जिसका विवरण अधिकतर लोगोंको मालूम है। १८ अप्रैल १९५५ को एशिया और अफ्रीकाके प्रतिनिधि हिन्देशियाके बांडुंग नामक स्थानपर एक सम्मेलनमें उपस्थित हुए। वे साम्राज्यवाद प्रेरित एक नृशंस हत्याकी छायामें मिले। चीनी तथा अन्य प्रतिनिधियोंको ले जानेवाला काश्मीर 'प्रिंसेस' नामक एयर इंडिया इंटर नेशनल वायुयान आगकी लपटोंसे घिरा हुआ प्रशांत महासागरमें डूब गया। यह अंतर्ध्वंस-कार्य, किरायेके दुराभिकर्ताने किया था।

तथापि इस गम्भीर दुःखद घटनाने बांडुंग सम्मेलनके महत्वको द्विगुणित करनेकाही कार्य किया और यह भी बतलाया कि साम्राज्यवादके भविष्योंपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। इतिहासमें प्रथम बार एशिया और अफ्रीकाके दो महाद्वीप, इस ज्ञानके साथ कि उनके पास उपनिवेशवादी रोगको समाप्त करनेकी शक्ति है, कार्यक्रमकी एक सामान्य योजना बनानेके लिये मिले।

चीन और भारतके मध्य जो दृढ़ मित्रता और अवरोध उस समय विद्यमान था, उसके विना इस प्रकारका सम्मेलन कदापि सम्भव नहीं हो पाता। एशिया–अफ्रीका एकताकी धुरी यही थी। पश्चिमने इस धुरीको नष्ट करनेका प्रयत्न अकारण नहीं किया था। जिस वायुयानमें चू–एन–लीकी यात्राकी सूचना थी, उस वायुयानको अतर्ध्वंस करनेके यत्नके पश्चात, उन्होंने सम्मेलनका अंतर्ध्वंस करनेका प्रयत्न किया।

संयुक्त राज्यके परराष्ट्र विभागने प्रकोपक अभिकर्त्ताके रूपमें पाकिस्तानके मुहम्मदअली और श्री लंकाके कोटलावालाको चुना। उनके पीछे फिलिप्पाइन, थाईलेंड आर ईराकरूपी इशारे पर नाचनेवाली कठपुतलियाँ खड़ी की गईं। तथाकथित स्वतंत्र संसारके इस विचित्र प्रतिनिधि-दलने एक मुँह होकर सम्मेलनको ध्वस्त करनेके लिये साम्यवाद-विरोधी परिचित कूट युक्तियोंका प्रयोग किया।

कोटलावालाने इस बात पर जोर डाला कि सभी साम्यवादी सरकारोंको मास्कोका उपग्रह समझना चाहिये, और इसका शक्तिपूर्ण विरोध प्रदर्शन बांडुंगमें होना चाहिये। यही वह चाल थी जिसके द्वारा संयुक्तराज्यके परराष्ट्र विभागने यह आशा की थी कि विशेष रूपसे अपने निरंकुश समाजमें वाममार्गी शक्तियोंके प्रवेशसे भयभीत सामंती तथा अर्धसामंती राज्यके प्रतिनिधियोंमें मतभेद और गड़बड़ पैदा होनेके साथ ही नेहरू भी उलझनमें पड़ जायँगे और फलस्वरूप भारत-चीन धुरी निर्बल पड़ सकती है।

यह अभिलषित विचारणा थी। ऐसी कोई बात नहीं हुई। नेहरू और चू-एन-ली की राजनीतिज्ञताने सम्मेलनकी रक्षा कर ली। जिन क्षेत्रोंसे कुछ आशा नहीं थी, उन्होंने भी बुद्धिमानीसे काम लिया। सह-आस्तित्वके पाँच सिद्धांतोंके आधारपर दस सूत्री अधिक विवरणात्मक घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। यह एक मतसे पास हो गया। वस्तुतः अंतर्ध्वंसके इस प्रयत्नका प्रभाव उलटा उन्हीं पर पड़ा। समस्त संसारमें लोगोंने आश्चर्य-चकित होकर यह देखा कि विभिन्न सिद्धांत और राजनैतिक व्यवस्था-वाले राष्ट्र एक स्थानपर एकत्रित हुए, उन्होंने गरमागरम और लगभग अपशब्द युक्त वादविवाद किया और अंतमें सिद्धांतोंके एक ऐसे घोषणापत्रपर सहमत हो गये, जिससे शांतिपूर्ण दृष्टिकोण और शांतिपूर्ण समाधानका आश्वासन मिलता था।

पंचशील अब ३० राष्ट्रोंने मान लिया। यह यथार्थमें तत्कालीन लाभ था। अब तक एकांतमें पड़े हुए लोगोंके लिये, यह पुलके समान था। यह दोनों महा-द्वीपोंको अधिक निकट संपर्कमें ले आएगा। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अब साम्राज्यवाद उनके साथ बारी बारीसे क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता था। उसे संपूर्ण एशिया और अफ्रीकाके प्रति उत्तरदायी होना पड़ेगा।

अंतर्विरोध अवश्य विद्यमान थे। बांडुंग सम्मेलनमें भाग लेनेवाले अनेक सदस्य युद्धकालिक दक्षिणपूर्वी एशिया संधिसंगठनके सदस्य थे, जिसका लक्ष्य चीनकी सार्व-भौमता और स्वतंत्रता थी और जिसका समर्थन संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहा था। अन्य लोगोंकी सक्रिय अभिरुचि मध्यपूर्वमें सीटोकी ही प्रतिकृति बगदाद संधिमें थी। जिसकी रचना ब्रिटेनने की थी तथा जिसे संयुक्त राज्य अमेरिकाका आशीर्वाद प्राप्त था। उसमें सम्मिलित अधिकतर सदस्य राष्ट्र नाममात्रके स्वतंत्र थे, लेकिन वास्तवमें वे संसारकी एक या दूसरी साम्राज्यवादी शक्तिपर आश्रित थे।

लेकिन यह समझनेके लिये किसी अतर्ज्ञानकी आवश्यकता नहीं थी कि बांडुंगका अनुभव और भावना धीरे धीरे इन पारस्परिक विरोधोंका समाधान कर डालेगी और अफ्रीका और एशियावासियोंको समानरूपसे उन शृंखलाओंको तोड़नेके अवसर प्रदान करेगी, जिनके द्वारा वह अब तक पश्चिमी स्वामियोंसे बँधे हुए थे।

औपनिवेशिक मुक्ति प्राप्त करनेके प्रयत्नोंका केन्द्रस्थल बने अफ्रीकाके सम्बंधमें यह बात विशेष रूपसे सत्य थी। वहाँ पर साम्राज्यवाद अपना मृत्युपाश कायम रखनेके लिये हठपूर्वक लड़ रहा था। इस बातके चिन्ह स्पष्ट दीख रहे थे कि यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकती। क्या बांडुंगमें यह तय नहीं हो गया था कि एशिया और अफ्रीकाका दूसरा सम्मेलन अफ्रीकाकी भूमिपर होगा? यह वह निर्णय था, जिसमें एक चेतावनी सन्निहित थी।

अफ्रीका – यही वह स्थान था जहाँ बीसवीं शताब्दीके द्वितीय अर्धांशकी कहानी लिखी जानेवाली थी। राष्ट्रसंघ द्वारा १९५४ में प्रकाशित डेमोग्रेफिक इयर बुकके अनुसार अफ्रीकामें केवल पाँच प्रदेश स्वशासित थे, अर्थात:– मिश्र, इथोपियार ऐरीट्रिया, लाइबेरिया, लीबिया और दक्षिण अफ्रीका संघ। शेष अफ्रीकामें जहाँकी जनसंख्या कुलकी ६।१० थी, स्वशासन नहीं था। अफ्रीकाके एक प्रदेशको "बेलजियम" अधिकृत, २१ प्रदेशको "फ्रांस" अधिकृत, ५ को "पुर्तगाल" अधिकृत और २० को "ब्रिटिश" अधिकृत अनुसूचित किया गया था। इस मौन घोषणाका वस्तुतः अर्थ यह था कि अफ्रीकामें लगभग २० करोड़ गुलाम उन पश्चिमी राष्ट्रोंकी निजी संपत्ति थे, जो हमेशा 'स्वतंत्र जनता' और 'स्वतंत्र' संसारकी बात करते रहते हैं।

यदि पश्चिमके साम्राज्य निर्माता यह सोचते थे कि अफ्रीकाको कायम रखा जा सकता है, तो वे बांडुंग सम्मेलनके नाम लेते ही काँपनेके अतिरिक्त और कर भी क्या सकते थे? उन्हें पता था कि एशियासे मित्रता स्थापित करनेवाले अफ्रीकाकी ओर उन्हें ध्यान देना पड़ेगा। यही अनुभव था जिसने शीत युद्धकी स्थितिको समाप्त करनेवाली शक्तियोंको गति दे दी।

जो लोग संसारके परिवर्तनोंके सम्बंधमें यही धारणा रखना चाहते हैं कि वे असम्बंधित वैयक्तिक शक्तियोंके परिणाम स्वरूप होती हैं, वे लोग इस बातसे सहमत न होंगे। उनके लाभके लिये हमें उन घटनाओंकी ओर पुनः ध्यान देना चाहिये, जिन्हें " बांडुंगके निरर्थक सिद्धांत " कहकर टाल दिया गया था।

प्रधान मंत्री नेहरूने पंचशीलके सिद्धांतोंका प्रचार करके उन देशोंका समर्थन पानेके लिये सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपके अन्य समाजवादी देशोंका जूनमें भ्रमण किया। १५ जुलाईको १८ नोबुल पुरस्कार पानेवाले वैज्ञानिकोंने विश्वके राष्ट्रोंसे यह अपील की वे राजनैतिक साधनके रूपमें आणविक शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग बंद कर दें। १६४५ के पोस्टडम सम्मेलनके पश्चात प्रथम बार १८ जुलाईको जिनेवामें होनेवाले चार राष्ट्रोंके शीर्षस्थ सम्मेलनने स्थायी शांति प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा की। इस विचार-विमर्शमें आश्चर्यजनक सौहार्द्रता बनी रही।

बहुत होना शेष था। चीनने सितम्बरमें घोषणा कर दी कि वह उन ११ अमरीकन उड़ाकोंको मुक्त कर देगा, जिन्हें भेदिया होनेके अपराधमें बंदी बनाया गया था। इस प्रकार दोनों देशोंके बीच गैरसरकारी बातचीतके लिये मार्ग साफ हो गया। सितम्बर १६५५ में सोवियत संघ और पश्चिमी जर्मनीने कूटनीतिक सम्बंध स्थापित करनेके लिये एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। संयुक्त राज्य अमेरिकाने अक्टूबरमें सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपकी यात्रा करनेवाले अमेरिकनोंके पार-पत्रोंके ऊपर लगे प्रतिबंधको हटानेकी घोषणा कर दी। नवम्बर और दिसम्बरमें बुलगानिन और ख्रुश्चेवने भारत ब्रह्मा और अफगानिस्तानका दौरा किया।

१६५५ के अंत तक प्रमुखरूपसे बांडुंगके समर्थक १६ नये सदस्योंके राष्ट्रसंघमें प्रविष्ट होनेके कारण उस संगठनका शक्ति संतुलन बहुत कुछ बदल गया। जापानके प्रवेश और फारमोसाके स्थानपर चीनी जन गण-तंत्रके सुरक्षा परिषद्में पहुँचने पर; जिस परिवर्तनको संयुक्त राज्य अमेरिका अधिक दिनों तक नहीं टाल सकता था; बांडुंग दल निश्चित रूपसे राष्ट्रसंघमें लगभग निर्णायक स्थितिमें पहुँच जायगा।

आणविक शक्तिको शांति हेतु प्रयोग करनेके विषयमें होनेवाला अत्यधिक सफल अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। प्रथम बार अणुओंके विखंडन और

सम्मिलनके भेदोंपर और विश्वके लाभ हेतु इस असीमित शक्तिके प्रयोग पर स्पष्ट विचार हुआ। भारतने इस सम्मेलनका सभापतित्व किया। यदि विज्ञान जिसपर युद्धमें विजय आधारित है, सौहार्द्रतासे प्रभावित हो जाय, तो निश्चित रूपसे शांति अधिक सुरक्षित हो सकती है।

और यह प्रक्रिया १९५६ में जारी रही। भारतमें अनेक विदेशी सभ्रांत व्यक्ति आये, जिनमें सऊदी अरब और ईरानके शाह भी समिलित हैं। इंग्लैंडमें मलेनकोव, बुलगानिन और खुश्चेव पहुँचे। चीनने कम्बोड़िया और जापान सरीखे राष्ट्रोंके उन प्रतिनिधियोंका आतिथ्य सत्कार किया, जिन्हें पहले संदेहकी दृष्टिसे देखा जाता था। मिश्र और पाकिस्तानने अपने आपको गणतंत्र घोषित कर दिया। सीमांत प्रदेशोंके आरपार अधिक व्यापार होने लगा। सांस्कृतिक विनिमय द्वारा लोगोंमें एक दूसरेको समझनेका ज्ञान बढ़ा। अंतमें सामान्य स्थितिके चिन्ह दिखलाई देने लगे।

लेकिन सर्वत्र यह बात नहीं थी। तनाव क्षेत्र चीनी तटसे बदल कर पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीकामें पहुँच गया था। साम्राज्यवादी रणनीतिके परिवर्तन और नये संकटका प्रमुख कारण अरब प्रदेशीय तेल था। अमेरिकाके पुराने तेल क्षेत्र शुष्क होने लगे थे। तेलकी माँग बढ़ रही थी। संयुक्त राज्य अमेरिका भी वास्तविक रूपसे तेलका आयात करने लगा था। पश्चिमी एशियामें विश्वका ८० प्रतिशत प्रमाणित तेल भंडार था। लेकिन इस अपेक्षाकृत सुरक्षित औपनिवेशिक क्षेत्रमें भी विस्फोट होने लगे थे और परिणाम स्वरूप वे शेष एशियासे मित्रता स्थापित करनेमें लगे थे।

१६ मार्च १९५६ को साइप्रसकी अशांति पर होनेवाले विवादका उत्तर देते हुए प्रधान मंत्री एंथोनी ईडनने लोकसभाके सामने वास्तविकता पर प्रकाश डाला था। उन्होंने कहा था कि "हमारा कर्त्तव्य अपने देशकी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की सुरक्षा है...... सबसे ऊपर तेल...... हमारे देशवासियोंका कल्याण और यहाँ तक कि उनका जीवन भी साइप्रस पर आश्रित है, क्यों कि यह स्थल तेलके तत्संबंधी हितोंकी रक्षाके लिये चौकी और संतरीके समान खड़ा है। यह साम्राज्यवाद नहीं है। प्रत्येक सरकारका यही सुस्पष्ट कर्त्तव्य होना चाहिये और

इसे ही हम पूरा करना चाहते हैं।" एक सप्ताह पूर्व लंदनके डेली टेलीग्राफने इस परिस्थितिको समेटते हुए लिखा था कि, "मध्यपूर्वकी नीतिका मुख्य उद्देश्य हमारी तैल पूर्तिको सुरक्षित करना है।"

काला अफ्रिका और भूरा अरब अब श्वेत यूरोप और श्वेत अमेरिकाके लाभ हेतु जीवित रहनेको तैयार नहीं थे। लंदन और वॅाशिंग्टन-वासियोंके लिये यह बात कटु सत्यके समान थी और इसी कारण आशानुकूल रूपमें उन्होंने हाथ-पैर मारे। बगदाद संधिका समर्थन करनेवाले राष्ट्रोंकी मिश्र, सऊदी अरब और सीरियाने भारी आलोचना की। इस संधिसे संबद्ध एक सदस्य ईराननें पुनः सोचना प्रारंभ कर दिया। इसी बीच इस संधिमें सम्मिलित होनेके लिये दवाव डाले जानेके कारण जोर्डनने विद्रोह कर दिया और अपनी सहायता प्राप्त सेनाके षड्यंत्रकारी ब्रिटिश सेनापति "ग्लव पाशा" को उखाड़ फेंका।

जब पश्चिमने अरब राज्योंको इसराइलके सैनिकीकरणकी धमकी दी, तब इस प्रयत्नको निरर्थक करनेके लिये उनकी प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होंने समाज-वादी दुनियाँकी ओर दृष्टिक्षेप किया। मिश्रने फुर्तीके साथ सोवियट संघसे शस्त्र सहायताके समझौते पर बातचीत कर डाली। सीरिया भी ऐसा ही करनेका विचार कर रहा था और यही दशा सऊदी अरबकी थी। और सऊदी अरबवासियोंको महान आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने देखा कि "नास्तिक" सोवियत संघ किसी भी प्रकारके उपबंधोंके बिना भी पर्याप्त आर्थिक सहायता देनेके लिये तैयार है।

पाकिस्तान भी समाजवादी दुनियांसे पुनः संपर्क स्थापित करनेकी आवश्यकताके विषयमें सोचने लगा। उसके प्रधान मंत्रीने चीन जानेका विचार प्रकट किया। एक सोवियत व्यापारिक मंडल परस्पर सहायक समझौते पर विचारविमर्श करनेके लिये कराँचीमें आया। राजनैतिक रूपमें भी संयुक्त राज्यीय बंधनोंसे मुक्ति पानेकी प्रक्रिया धीरे धीरे जोर पकड़ने लगी।

लंकावासियोंने इस नई भावनाका बड़े नाटकीय ढंगसे प्रदर्शन किया। आम चुनावोंमें मतदान करते समय उन्होंने साम्यवादके विनाशक जोन कोटलावालाको बुरी तरह पराजित कर डाला।

थोड़े शब्दोंमें, एशिया और अफ्रीका वासियोंने जो अब तक साम्राज्यवादी दबावके शिकार रहे थे, भारतकी ही तरह अपनी स्वतंत्रता प्रतिपादित करनी प्रारम्भ कर दी। राजतंत्रात्मक सरकारें गणतंत्रात्मक सरकारें तथा सामंतवादी और कबाइली व्यवस्था-वाले देश भी इसी ढंगकी आकांक्षाओंका पोषण कर रहे थे। इस बातकी भी पूरी सम्भावना थी कि कहीं नई हलचल अधिक शक्ति पूर्ण होकर साम्राज्यवादको उसके सामरिक स्थल और अशांति स्थल देनेसे इनकार न कर दे और फल स्वरूप राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक प्रगतिका द्वार उन्मुक्त हो जाय। भारतका कार्य १९५५ और १९५६ में इन महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओंका अनेक दिशाओंमें नेतृत्व करना रहा।

बांडुंग सम्मेलनके समाप्त होते ही नेहरूकी सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपकी यात्रा तथा १९५५ की समाप्तिके समय बुलगानिन और ख्रुश्चेवकी भारत, बरमा और अफगानिस्तानकी जवाबी यात्रा अधिक स्मरणीय घटनायें थीं। यह घटना समाजवादी दुनियाँके साथ भारतके सम्बंधोंमें एक ऐतिहासिक परिवर्तन बिंदु है।

शीघ्रता पूर्वक प्रगतिशील समाजवादी देशोंके साथ व्यापारिक और आर्थिक सहयोग प्राप्त करनेके लिये कदम उठाये जाने लगे, सोवियत संघ समानता और पारस्परिक लाभकी शर्तोंपर भारत द्वारा अपेक्षित किसी भी प्रकारकी सहायता देनेके लिये तैयार था। ख्रुश्चेवने विदेशी सहायताके इस सिद्धांतकी सुप्रीम सोवियतके सामने २९ दिसम्बर १९५५ के दिन दिये गये अपने भाषणमें यथेष्ट स्पष्टताके साथ व्याख्या की थी। उसका प्रमुख अनुच्छेद है कि—

"सोवियत संघ प्रत्येक देशको मित्रताकी भावनाके साथ और किसी प्रकारके उपबंधोंके बिना आर्थिक एवं तांत्रिक सहायता देता है। हमारे पास अतिरिक्त पूँजी नहीं है।

"हमारी अर्थ-व्यवस्था योजनानुसार चलती है। हमारी अभिरुचि पूंजीके निर्यातमें नहीं है। और मालके निर्यातके सम्बंधमें हम केवल उतना ही उत्पादन करते हैं, जितना हमारे लिये, हमारे मित्रोंके लिये और विदेशोंसे व्यापारके लिये आवश्यक हो।

"कुछ वस्तुओंकी तो हम अपने देशकी बढ़ती हुई आवश्यकताओंके लिये भी पूर्ति नहीं कर पाते, लेकिन अपने मित्रोंके साथ प्राप्य सामानको बाँट लेना

और इस प्रकार एक साथीके ढंगसे उनकी सहायता करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

"कुछ समझदार पूँजीजीवी आज कल अर्ध विकसित देशोंकी आर्थिक सहायता बढ़ानेके विषयमें बातचीत करते हैं। यह बुरा नहीं है। पूँजीवादी देशोंद्वारा ऐसी सहायतामें कोई आपत्ति नहीं है। सैनिक गुटों और संधियोंमें देशोंको घसीटनेकी अपेक्षा यह अधिक अच्छी बात है।

"हम इस बातसे बहुत प्रसन्न हैं कि उन देशोंके साथ भारतके संबंध बहुत अच्छे हैं, जिनके साथ हमारे सम्बध किन्हीं कारणोंसे कुछ खिंचे हुए और अनुत्साह-पूर्ण हैं। अपने मित्र, भारतके माध्यमसे हम उनके साथ अपने संबंध सुधारनेकी आशा करते हैं।"

शत्रु और मित्रमें भेद करनेके लिये भारतको इस घोषणाके साथ अगले सप्ताहमें राष्ट्राध्यक्ष आइसनहावर द्वारा किये गये राष्ट्रसंदेशके समानान्तर अनुच्छेदकी केवल तुलना करनेकी आवश्यकता है। उन्होंने कहा था कि —

"हमें अपने पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रमको अधिक सुदृढ़ और सुरक्षित बनाना चाहिये। चूंकि अविकसित क्षेत्रोंमें दरिद्रता और अशांतिकी परिस्थितियोंके कारण वहाँके लोग अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादके विशेष लक्ष्य बन जाते हैं। इस कारण साम्यवादी धमकियों और प्रलोभनोंसे उनकी स्वतंत्रताकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि आर्थिक उन्नति और सुदृढ़ता प्राप्त करनेमें उनकी सहायता की जाय।"

जैसे ही भिलाई इस्पात कारखानेका विवरण प्राप्त हुआ, वैसे ही इस बातका प्रचार होने लगा कि सोवियत सामान और तांत्रिक सहायता किसी भी दशामें ब्रिटेन और अमेरिकन निर्माताओंकी तुलना नहीं कर सकती। संसारका यह एक नवीनतम इस्पात कारखाना बननेवाला था। इसके अतिरिक्त सोवियतसंघ जानेवाले एक भारतीय इस्पात प्रतिनिधि मंडलने, जिसमें रूसका पक्षपात करनेवाले तत्व बहुत कम थे, भारत सरकारको अपना प्रतिवेदन दिया और उसमें स्पष्ट रूपसे उन्होंने यह बतलाया कि सोवियत इस्पात उद्योग अनेक रूपोंमें संयुक्तराज्य अमेरिकाके उद्योगसे भी आगे है।

इस्पातके पश्चात अनेक क्षेत्रोंमें संपर्क स्थापित हुए, जैसे खान, नई खानोंकी खोज, तेल, औषधियाँ, जहाज और यहाँ तक कि भारी औद्योगिक प्रसार। सावधानीके साथ उठाये गये यह कदम निश्चितरूपसे आंग्ल-अमेरिकनों पर भारतकी आश्रयताको समाप्त करनेकी दिशामें उठाये गये प्राथमिक प्रयत्न थे। अब इस बातमें अधिक देर नहीं थी, जब कि भारतीय नेता इन नये सम्बंधोंको विकसित करेंगे और यहाँ तक कि साम्राज्यवादी भयादोहनकी सदैव विद्यमान धमकीका निराकरण करनेके लिये समाजवादी देशोंके साथ सैनिक एवं अन्य आवश्यकताओंका विक्रय करना प्रारंभ कर देंगे।

इस विषयमें यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है कि सोवियत संघने काश्मीरके विषयमें भारतके बहुत कुछ अनुकूल सिद्धांत ही अपनाया है। सोवियत-अफगान सम्बंधोंका पुनर्निर्धारण और पख्तून आंदोलनकी जनतांत्रिक भावनाओंकी मास्को द्वारा स्वीकृति भी विचारोंमें क्रांति उत्पन्न करनेवाली बात है।

भारतकी उत्तर-पश्चिमी सीमापर शक्तियोंका ऐसा पुनर्संगठन पाकिस्तानको निष्क्रिय बनानेमें सहायता करता है। क्योंकि पाकिस्तान संयुक्तराज्य द्वारा रण सज्जित होकर स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनानेके इच्छुक भारतके लिये भारी अवरोधका कारण प्रमाणित हो सकता था। यद्यपि यह सच है कि ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका तथा पूर्वी और पश्चिमी भागोंका पारस्परिक संघर्ष उस देशमें नई शक्ति उन्मुक्त कर रहा है, जिसके सहारे डालर–नीतिकी पकड़से सम्भवतया पाकिस्तान अपनेको मुक्त कर सके, लेकिन भारतके लिये तो सदैव भय रहता ही है, क्योंकि इस चंगुलसे छुटकारा पानेके लिये वहाँ अब तक कोई वास्तविक संगठित प्रयत्न नहीं हुआ है।

भारत सरकारके सामने हमेशा यह वास्तविकता आती है और फलतः उसे इसी आशासे राष्ट्रमंडलीय सदस्यताको कायम रखने पर विवश करती है कि शायद अमेरिका द्वारा उत्तेजित पाकिस्तानकी दुःसाहसिक नीतिको शांत करनेमें आयात स्थितमें ब्रिटेन अपने प्रभावका उपयोग करेगा। लेकिन अफ्रीकाकी विस्फोटक परिस्थितिसे और उसके निराकरण हेतु भारत द्वारा ब्रिटिश हितोंसे

अधिकाधिक टकरानेवाली स्थिति ग्रहण करनेके कारण इस शृंखलापर भी भारी तनाव पड़ रहा है।

इस कारण मिश्र द्वारा स्वेज नहर कंपनीका स्वामित्व ग्रहण करनेका साहसिक प्रयत्न इस प्रश्नपर संकट उपस्थित करनेके प्रयत्नके बावजूद भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। साम्राज्यवाद द्वारा झंकृत तलवारोंका मिश्र पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। इससे केवल किसी कालके शासक पश्चिम और नवोदित पूर्वके सम्बंधोंमें क्षोभ ही बढ़ता है। आज स्वेजकी बात है, कल अरब स्थित तैलका प्रश्न हो सकता है। राष्ट्रीय प्रगतिके साथ विदेशी सुविधाओंकी समाप्ति जिस रूपमें सम्बंधित है, जैसा कि मिश्र और उसके आसवान बाँधके प्रकरणमें था, उसके फलस्वरूप समस्त एशिया और अफ्रीकामें इसी प्रकारके विचारोंको प्रोत्साहन मिलनेकी पूर्ण सम्भावना है। भारतमें यह बात विशेषतया लागू होती है, क्योंकि यहाँ विदेशी पूँजी अधिक है।

जिस प्रकार बींसवी शताब्दीके प्रथम अर्धांशमें एशियाकी घटनाओंका प्रभाव संसारकी प्रवृत्तियों पर पड़ा था, उसी प्रकार अरब और अफ्रीकाकी घटनायें शताब्दीके द्वितीय अर्धांशमें प्रमुखता प्राप्त कर रही हैं। यह निर्णयात्मक काल है, जो साम्राज्यवादकी मृत्यु देख सकेगा।

प्रचुरताकी योजना

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।

—भगवद्गीता

स्वतंत्रताकी नीतिसे भारतको होनेवाले लाभको देखकर एशिया और अफ्रीका दोनोंको प्रभावित होना ही पड़ा । प्रथम पचवर्षीय योजना-कालमें अपमानपूर्ण दबावके सामने आत्मसमर्पण बिना ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक सफलता प्राप्त हुई थी ।

इसके कुल परिणामोंसे यही प्रतिभासित होता था कि पाँच वर्षोंमें वास्तविक राष्ट्रीय आयमें १८ प्रतिशतकी वृद्धि हुई है। १९५२–५३ के मूल्योंके आधार-पर यह अनुमान लगाया गया था कि राष्ट्रीय आय १९५०–५१ के रु. ९,११० करोड़से बढ़ कर १९५५–५६ में रु. १०, ८०० करोड़ हो गई है। प्रति व्यक्ति आयमें ११ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति उपभोगमें ९ प्रतिशतका सुधार देखा गया था ।

अनाजका उत्पादन २० प्रतिशत, रूईका ४५ प्रतिशत और तिलहनका ८ प्रतिशत बढ़ गया था । सिंचाईके महत् कार्यों द्वारा ६० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि और लघु सिंचाई कार्यों द्वारा १०० लाख एकड़ अन्य भूमि सिंचित होने लगी थी । औद्योगिक उत्पादनका अंतरिम देशनांक १९४६ को १०० आधार मान कर १९५० के १०५ और १९५१ के ११७ के स्थानपर १९५५ में १६१ तक हो गया था ।

योजनाने प्रमुख बल कृषिपर दिया था, किंतु हिन्दुस्थान मशीन टूल फेक्टरी, चित्तरंजन रेल इंजन कारखाना, पेरंमबूर सवारी डिब्बा कारखाना आदि अनेक उद्योगों द्वारा राज्यने भी औद्योगिक विकासमें प्रमुख भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था, निजी क्षेत्रके अन्दर विशेषरूपसे उत्पादक माल और पूँजी मालके उद्योगोंकी स्थापनामें यथेष्ट नवीन विनियोजन भी हुआ था। भाखरा-नांगल सरीखी बहु उद्देशीय आयोजनाओंकी प्रगति भी निरन्तर हो रही थी, जो संसारकी विशालतम

योजनाओंमें एक है। आठ वर्षोंमें सिंचाई और बिजलीकी प्रगतिके लिये होनेवाला विनियोजन उससे कई गुना अधिक था, जो अंग्रेजोंने अपने साम्राज्य-कालके २०० वर्षोंमें किया था।

तीन इस्पात कारखानों और एक भारी विद्युत कारखानेसे सम्बंधित प्रारम्भिक कार्य पूरा हो चुका था। चूँकि लागत दरमें १९५०–५१ के ४–६ प्रतिशतसे १९५५–५६ में ७–३ प्रतिशतकी वृद्धि होनेके परिणामस्वरूप मुद्रास्फीतिका दबाव नहीं बढ़ा था, इस कारण अधिक आश्चर्यजनक कार्य प्रारम्भ करनेके लिये अब एक सुदृढ़ आधार मौजूद था। वास्तविकता यह है कि प्रथम योजनाकालके समाप्त होनेपर मूल्योंमें योजनाके आरम्भ होनेके समयसे १३ प्रतिशतकी कमी हुई थी।

निश्चितरूपसे भारतीयोंका जीवनस्तर अब भी संसारके निम्नतम स्तरीय देशोंके अंतर्गत था। अन्नका औसत उपयोग, स्वीकृत स्वास्थ्य-स्तरसे कम था। प्रति व्यक्ति कपड़ोंका उपभोग युद्धपूर्वके स्तर पर था। आवास स्थान अपर्याप्त थे और देशकी लगभग आधी जनताको उपभोक्ता मालपर खर्च करनेके लिये नकद ६–७ रुपये प्रतिमाससे अधिक नहीं मिल पाता था। घरोंमें पैदा किये अनाज और घरोंमें बनी वस्तुओं सहित औसत उपभोग रु. १३ से भी कम था। इसके अतिरिक्त देशमें नौकरीके अवसर भी श्रमशक्तिकी वृद्धिके साथ कदम नहीं मिला पा रहे थे। अस्तु योजनाके अन्य अंगोंकी आलोचना कितनी ही गंभीर क्यों न हो, किन्तु प्रथम योजनासे प्राप्त होनेवाले लाभोंका महत्त्व कम नहीं किया जा सकता।

पी. सी. महालनोबिस एवं अन्य भारतीय संख्या-शास्त्रियोंने विदेशी अर्थ-शास्त्रियोंके एक दलके साथ पर्याप्त विचार-विमर्श करनेके पश्चात जिस द्वितीय पंचवर्षीय योजनाका प्रारूप बनाया था, उसके ऊपर १९५५ से आरंभ होकर १९५६ तक, काफी विवाद होता रहा। तथापि इस निर्णायक विवादके विवरणपर विचार करनेसे पहले एक वार फिर उस समानान्तर आंदोलन अर्थात् भाषायी पुनर्गठन माँग पर विचार करना जरूरी है, जो भारतीय राजनैतिक दृश्यका केवल एक आश्चर्य

जनक रूप ही नहीं है, बल्कि देशकी अर्थ-व्यवस्थाके साथ भी अत्यंत निकट रूपसें सम्बंधित है ।

१० अक्टूबर १६५५ को राज्य पुनर्गठन आयोगका प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ । सामान्य तौरसे वर्तमान २७ राज्योंके स्थानपर उसमें कश्मीर सहित १६ राज्योंके निर्माणकी सिफारश थी । इस प्रतिवेदनके प्रकाशनने, जिसके कुछ विवरणोंका किन्हीं क्षेत्रोंको पूर्वज्ञान था, भारतके मुखर भागका पूर्ण ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया ।

सामान्य तौर पर सिफारशें स्वीकार्य थीं । यद्यपि भाषा और संस्कृतिकी कट्टर आस्थाको हटाकर सीमाओंके पुनर्गठनकी आवश्यकतापर जोर डाला गया था । तथापि तथ्य यह था, कि आयोगने सबसे अधिक भाषा और संस्कृतिका ही ध्यान रखा था । जिन केन्द्रोमें इस ओर ध्यान नहीं दिया गया, वही कटु विवादके क्षेत्र बन गये ।

द्विभाषिक रूप अप्रिय था । पंजाब-पेप्सू हिमाचल और महाराष्ट्र-गुजरातके लिये यही प्रस्तावित किया गया था और यहीं पर तनाव शीघ्र ही पैदा हो गया, क्योंकि एक भाषाभाषी वर्ग सोचता था कि कहीं दूसरा वर्ग प्रधानता प्राप्त न कर ले । महाराष्ट्रवासियोंमें यह भय विशेष रूपसे व्याप्त था । आयोगका निर्णय था कि विदर्भ जो प्रमुख रूपसे मराठी भाषी क्षेत्र था, प्रस्तावित द्विभाषिक राज्यके बाहर रखा जाय, यद्यपि कच्छ और सौराष्ट्रके गुजराती भाषी क्षेत्रोंको सम्मिलित कर लिया गया था । यह स्पष्ट था कि आयोगको सिफारशों द्वारा विशुद्ध द्विभाषिक राज्यमें महाराष्ट्रवासियोंको वास्तविक बहुमत प्राप्त करनेसे वंचित करनेका प्रयत्न हुआ था । अपने विरुद्ध, अन्याय सोचनेवाले दलोंका, प्रमुख कार्य यह हो गया कि इस 'गठबंधन' को समाप्त कर दिया जाय । उन्होंने अब अपनी शक्तिका प्रदर्शन किया । हिन्दू और सिक्ख, महाराष्ट्रियनों और गुजरातियोंमें मतभेद बढ़ गये ।

अन्य क्षेत्रोंमें इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ होनेवाला था । देशके प्रत्येक भाषिक दलने यह सोचा कि यदि पंजाब और बम्बई प्रदेशमें प्रतिवेदनकी इतनी उग्र आलोचना हो रही है, तो वह भी अपनी शक्तिके प्रदर्शन द्वारा उसमें परिवर्तन

करा सकते हैं। एक समूहके इधर या उधर किसी भूमिखंड पर अधिकार पानेके प्रश्नको लेकर उनकी घुटती हुई भावनायें खुल कर सामने आ गई। कभी-कभी तो यह मालूम पड़ता था, किसी गाँवके भविष्यका प्रश्न लेकर ही भाई-भाईमें पारस्परिक युद्ध छिड़ जायगा।

प्रथम संशोधनोंकी घोषणा हुई। मराठे और गुजराती अलग हो सकते थे, लेकिन ऐसी दशामें बम्बई शहर एक पृथक इकाई रहेगी। यह सुझाव, हठधर्मी मराठोंके गाल पर पड़नेवाले एक तमाचेके समान समझा गया।

बम्बई नगरको लेकर होनेवाला संघर्ष अन्य सभी संघर्षोंसे बढ़चढ़ कर था। महाराष्ट्रवासियोंके लिये यह उनके भविष्यका अर्थात एक संपूर्ण जातिकी आर्थिक समृद्धिका युद्ध हो गया। नेहरू तकने जिसे महाराष्ट्रका भाग मान लिया था, उस बम्बईके बिना महाराष्ट्रकी कभी शीघ्रतापूर्वक उन्नति नहीं हो सकती थी।

सर्वोच्च और निम्नतम स्तरका महाराष्ट्रवासी बचा-बचा शहरको जीतनेके लिये संगठित हुआ। देशने शायद ही कभी ऐसी उत्तेजना और लगनके दर्शन किये हों। इस भावनाके साथ-साथ यह भय विद्यमान था कि अगले चुनावोंमें काँग्रेसको महाराष्ट्रसे एक भी मत प्राप्त न हो सकेगा। स्पष्टतया इस महत्त्वशाली नगरके संघर्षने भाषावादकी शक्तिको रेखांकित कर दिया, जिसका सामना राजनैतिक रूपसे प्रच्छन्न होनेके खतरेके बिना कोई नहीं कर सकता था। मुँह छिपानेके अनेक प्रयत्न किये गये। यह कहा गया कि बम्बई नगर केन्द्र शासित होगा, लेकिन महाराष्ट्र-की राजधानी भी बना रहेगा। परंतु कुछ वर्षों, शायद पाँच वर्ष तक ही राजधानी क्यों रहना चाहिये? इसके स्थान पर विदर्भ-सहित गुजराती-मराठी भाषी राज्यका निर्माण क्यों न हो?

वस्तुतः काँग्रेसी नेताओं द्वारा बम्बई नगर विषयक संकटके संपूर्ण प्रयत्नोंको देखकर आश्चर्य होता है, लेकिन इसका कारण ढूँढ़नेके लिये दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है।

मुख्य गुजरातको, जिसका शिरा-केन्द्र अहमदाबाद है, बम्बईके भविष्यके बारेमें किंचित भी चिंता नहीं थी। नगरके दंगे और गुजरातियोंके साथ होनेवाली छेड़-

छाड़को भी प्रतिक्रिया स्वरूप गुजरातमें महाराष्ट्रियनोंके साथ कोई हिंसात्मक बदला नहीं निकाला गया । अहमदाबादके गुजरातियोंको बम्बई स्थित अपने सहधर्मियोंके प्रति कोई वास्तविक सहानुभूति नहीं है । वस्तुतः वे तो उन्हें अपने संभाव्य शत्रु मानते हैं, विशेष रूपसे मारवाड़ी पूँजीके साथ उनके निकट संपर्कके कारण, उस संपर्कके कारण जिसके अवरोध हेतु अहमदाबादमें उन्होंने भारी प्रयत्न किया है । अगर बम्बई महाराष्ट्रमें चला जाता है, तो क्या हुआ ? गुजरात कांडलाको विकसित कर डालेगा ।

बम्बईको महाराष्ट्रसे पृथक करनेका कारण यह था कि न केवल शहरके गुजरातियोंको उसकी आवश्यकता थी, वरन् भारतके बड़े पूँजीजीवी और विदेशी पूँजी भी यही चाहती थी । काँग्रेस ऐसी माँगकी उपेक्षा कैसे कर सकती थी, विशेष रूपसे जब कि पार्टीको इसी जरियेसे पैसा प्राप्त होता था । बड़े पूँजीजीवी अनेक बातें स्वीकार करनेको तैयार किये जा सकते थे, किन्तु अपने अत्यंत विकसित स्थलोंको महाराष्ट्रियन राजनीतिकी अनिश्चितताके भरोसे छोड़नेके लिये नहीं ।

और इस प्रकार नेहरूको भी इस अन्यायको न्यायसिद्ध मान्य करनेके लिये विवश किया गया । उन्होंने महाराष्ट्रियनोंकी माँगका समर्थन किया, लेकिन इस निर्णयको टालनेके बहाने ढूँढ़े । दक्षिण पंथियोंकी आवाज इस सम्बंधमें दृढ़ और अडिग थी, क्योंकि बम्बईमें अनेक हितोंका समन्वय होता था ।

बम्बई विषयक काँग्रेसकी नीतिके मोड़ों और घुमावोंको न्याय-सिद्ध करनेके लिये सभी प्रकारके तर्क उपस्थित किये गये । सर्वधर्मवासका तर्क वास्तवमें बड़ा विचित्र था । क्योंकि कलकत्ता और अन्य अनेक नगरोंमें भी क्या इसी प्रकार सभी जातियाँ नहीं रहतीं । महाराष्ट्रीयनोंके एक नगरका नियंत्रण उन्हींके हाथोंमें सौंपते समय भयका वातावरण उपस्थित करनेका अर्थ केवल यही निकलता है कि वे अविश्वसनीय थे ।

केन्द्रीय अर्थमंत्री चिंतामणि देशमुखके त्यागपत्रके साथ-साथ इस प्रश्नने प्रमुखता प्राप्त कर ली । द्विभाषावाद जिसका अर्थ संपूर्ण गुजराती और मराठी क्षेत्रोंको एक

ही राज्यमें सम्मिलित करना था, अनेक महीनोंके कटु संघर्षके उपरांत समझौतेका आधार बना।

अहमदाबादके नेता इस निर्णयसे प्रसन्न नहीं हैं। उनके लिये द्विभाषावादका अर्थ है मराठीभाषी बहुमतका शासन! ऐसा बहुमत, जो महाराष्ट्रके आर्थिक हितोंकी साधना करेगा। सामान्य तौर पर कॉंग्रेस शक्तिका हृदय समझे जानेवाले, गुजरातमें; देश कॉंग्रेस-विरोधी-भावनाओंका भयंकर तांडव देख रहा है। महाराष्ट्रियनोंके विरुद्ध गुजरातियोंकी कोई घृणा नहीं है। केवल कॉंग्रेसी नेताओंका विरोध हो रहा है, जिन्होंने गुजराती हितोंके साथ विश्वासघात किया।

द्विभाषावादके प्रश्न पर स्वयं बम्बईके गुजराती एकमत नहीं हैं। जिनकी अधिकतर पूँजी वास्तविक गुजरातमें लगी हुई है, वे इस नये रूपके विरोधी हैं। उन्हें तो केन्द्रशासित बम्बई पसंद था, क्योंकि उस व्यवस्थामें उन्हें केवल गुजरातमें ही नहीं, वरन् बम्बईमें भी लाभ प्राप्त करनेकी आशा दिखलाई पड़ती थी। क्योंकि उस दशामें बम्बई सरीखे एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रको भी वे नियंत्रित कर सकते थे। वे गुजराती व्यापारी जिनका कार्य केवल नगरमें ही सीमित है, स्वभावतया इस द्विभाषिक रूपसे प्रसन्न हैं। तथापि अहमदाबादकी आवाज शक्तिशाली है।

अंतिम निर्णय कुछ भी हो, लेकिन यह स्पष्ट है कि अंतमें भाषावादी तर्क की ही विजय होगी और एक गुजराती प्रदेश तथा बम्बई-सहित एक मराठी प्रदेशकी रचना होकर ही रहेगी। यदि इच्छाके विरुद्ध लोगोंपर द्विभाषावाद थोपा गया तो वह केवल एक अस्थायी निराकरण ही होगा, क्योंकि उसके साथ संघर्ष कायम रहनेके बीज विद्यमान रहते हैं।

अनेक लोग निराशाके साथ अपने हाथ ऊँचे करके यह भविष्यवाणी कर रहे हैं कि ब्रिटिशराज्यकी एकमात्र अच्छाई अर्थात् भारतकी एकता पर पुनः संकट आ गया है। अन्य लोग भारतीय जनताके खूनमें रचे हुए जातीय दृष्टिकोणकी बात करते हैं। लेकिन ईमानदारीसे इस बातको तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आंदोलनोंकी रीति एवं उनकी लड़ाकू देशभक्तिकी विशेषताने आगमें घीका काम किया।

फिर भी इस समस्त तनावका वास्तविक कारण सांप्रदायिक अथवा दलगत दृष्टिकोणमें नहीं मिल सकता। इसका कारण आर्थिक था, पर आश्चर्यकी बात तो यह

है कि सांस्कृतिक और भाषिक अधिकारोंकी उत्साहपूर्ण रक्षक भारतीय साम्यवादी पार्टीभी अपने प्रचारमें इस तथ्यकी उपेक्षा करती प्रतीत हुई।

जैसा कि पहले बतलाया गया है, भाषिक पुनर्गठनके प्रश्नपर पार्टीयोंके भी मतभेद नहीं रहा। इस शताब्दीके आरंभसे ही अनेकों बार इस माँगको दुहराया गया था।

१९०५ में बंगभंगके अभिलोपनका समर्थन करते समय ही कॉंग्रेसने इस सिद्धांतको मान लिया था। इसके ३ वर्ष पश्चात और बिहार–बंगालके वास्तविक विभाजनसे चार वर्ष पहले, एक पृथक बिहार प्रदेश समिति बनाई गई थी। १९१७ में दो नई समितियाँ एक आंध्रके लिये और दूसरी सिंधके लिये बनाई गई।

१९२० में कॉंग्रेसके नागपुर अधिवेशनमें पार्टीने अपना एक राजनैतिक उद्देश्य भाषिक पुनर्गठन निश्चित किया। १९२८ में होनेवाले सर्वदलीय सम्मेलनने इसकी युक्तियुक्तता निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त की, यदि किसी प्रांतको अपनी ही भाषाके माध्यममें दैनिक काय और शिक्षाका प्रबंध करना है तो उसका एक भाषिक क्षेत्र होना आवश्यक है। यदि वह अनेक भाषा-भाषी क्षेत्र रहेगा तो निरंतर कठिनाइयाँ होती रहेंगी ......। सिद्धांततः सांस्कृतिक विशिष्टता, परंपरा और साहित्यके अनुरूपही भाषा होती है। भाषिक क्षेत्रके अंदर यह सभी तत्त्व मिलकर प्रांतकी सामान्य उन्नतिमें सहायता करेंगे। यह दृष्टिकोण उस समितिका था, जिसके अध्यक्ष स्वयं जवाहरलाल नेहरू थे।

१९२८ और १९४७ के बीचमें कॉंग्रेसने भाषिक सिद्धांतका प्रतिपादन ३ अवसरोंपर किया था, अर्थात १९३७ में कलकत्तामें जब उन्होंने आंध्र और कर्नाटक प्रांतोंके निर्माणकी सिफारिश की थी, १९३८ में वर्धामें आंध्र, केरल और कर्नाटकके प्रतिनिधियोंको आश्वासन देकर और १९४५–४६ में जब कॉंग्रेसने अपने चुनाव घोषणा पत्रमें यह प्रकाशित किया कि यथा संभव सांकृतिक और भाषिक, आधारपर ही प्रशासनिक इकाइयाँ बनानी चाहिये।

इस स्थितिमें एक विचलन किया गया। १९४५–४६ में प्रयुक्त "यथा सम्भव" शब्दकी व्याख्या १९४८ में धर आयोग द्वारा की गई, जिसमें

बतलाया गया कि किसी भाषिक क्षेत्रको प्रांत बननेसे पहले वित्तीय आत्मनिर्भरता, प्रशासनिक सुविधा और भावी प्रगतिकी क्षमता सरीखी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना चाहिये। इसके अतिरिक्त भारतकी एकता और भारतकी सुरक्षा आदिके नये नारे भी ईजाद किये गये।

उपगमनके इस परिवर्तनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वतंत्रता संघर्षके दरम्यान जब पारस्परिक मतभेद और साम्राज्यवादी बाँटो और राज्य-करो नीतिके आधारको दूर करना आवश्यक था, तब काँग्रेसने भाषिक पुनर्गठनकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया था, उस समय प्रत्येक भाषणमें और भारतीय प्रकृतिविषयक प्रत्येक लेखमें, भाषा, संस्कृति और साहित्यसे सम्बंधित प्रश्नोंपर बल दिया जाता था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, किसीने भी इस माँगके मूलाधार – अर्थ व्यवस्था – के बारेमें न तो बात ही की और न किसीने उस ओर ध्यान ही दिया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि अंग्रेजी शासन कायम था और अभी विदेशियोंसे आर्थिक परिवर्तन करनेके अधिकारोंको हस्तगत नहीं किया जा सका था।

लेकिन जसे जैसे वह सत्ता निकट आने लगी, भाषिक माँगको दबानेके लिये अखंडता और सुरक्षाके नारे लगाये जाने लगे। व्यापारियोंको अपनी आर्थिक शक्तिके लिये भय दीखा। १९४५–४६ में काँग्रेसके चुनाव घोषणा पत्रमें विशेकर इन्हीं लोगों द्वारा "यथा सम्भव" शब्दका प्रयोग किया गया था, क्योंकि वे एकाधिकार प्रसारके स्वप्न देख रहे थे। और जब यह सत्ता हस्तगत हो गई, तो १९४८ में नियुक्त 'धर आयोग' ने यह स्पष्ट कर दिया कि दक्षिणपंथी काँग्रेसियोंके जरिये काम करनेवाले अखिल भारतीय बड़े पूँजीजीवी, भाषिक पुनर्गठन के लिये तैयार नहीं हैं, क्योंकि ऐसा होनेके पश्चात् शक्ति – विकेन्द्रीकरणके कारण आर्थिक प्रगतिपर उनके एकाधिकारी नियंत्रणको भय उपस्थित हो जायगा।

जब तक इन दक्षिणपंथियोंकी प्रधानता रही और बिड़ला, टाटा आदिका विदेशी पूँजीके साझमें आर्थिक प्रगतिपर नियंत्रण रहा, तब तक काँग्रेसके अंदर भाषिक मागको दबाया जा सका।

यकायक इसका विस्फोट आंध्रमें ऐसे समय हुआ जब कि दक्षिणपंथी इतने शक्तिशाली नहीं रह गये थे और जब साम्राज्यवादी सहायता स्रोत पूर्ण शुष्क दिखलाई पड़ने लगे थे अर्थात जब केन्द्रीय सरकार आर्थिक प्रगतिम प्रमुख भाग लेनेका निश्चय कर रही थी। इस अवसरपर प्रत्येक भाषिक क्षेत्रमें एक बार पुनः यही विचारधारा जोर पकड़ने लगी कि आर्थिक क्षेत्रमें उचित व्यवहारकी तभी आशा की जा सकती है, जब देशके पुनर्गठनका आधार ऐसा हो, जिसमें समान अवसर प्राप्त होनेकी सभीको गारंटी मिल जाय।

ऐसे समय जब कि एक ओर द्वितीय पंचवर्षीय योजनापर बहस जारी थी, भाषावार राज्यकी मँगका हिंसात्मक रूपमें धधक उठना कोई अकारण बात नहीं थी।

योजनामें तीव्र प्रगतिका संदेश था, उस प्रगतिका जिसे प्रत्येक भाषावार प्रांत अपने लिये चाहता था। उसके अंदर सभी संभावनायें मौजूद थीं, क्योंकि राष्ट्रीय एकता और दृढ़ताके हितमें केन्द्रको अधिकतम पिछड़े हुए क्षेत्रकी माँगोंपर ध्यान देना जरूरी था।

प्रत्येक भाषिक क्षेत्र अधिकतम सहायता प्राप्त करनेके लिये अपनी स्थिति सुदृढ़ करनेमें दत्तचित्त हो गये। ऐसे समय क्रोध और उत्तेजनाकी ही आशा की जा सकती थी क्योंकि तेलगू और तामिल, मलयाली और मराठा, बंगाली और बिहारी, उड़िया और कन्नड़, पंजाबी, गुजराती, राजपूत तथा अन्य लोगोंका भविष्य दाँवपर लगा हुआ था। और क्या ठीक कि प्रत्येक भाषिक क्षत्रके अग्रिम वर्षोंकी कहानीका अनेक रूपसे निर्णय करनेवाली यह सीमायें हमेशाके लिये बनी रहें।

यह बात भी भविष्यकी सूचक थी कि अखिल भारतीय पूँजीजीवियोंके लगभग प्रत्येक सदस्य द्वारा इसका विरोध हो रहा था, जिसे वे " भाषावादका रोग " कहते थे। उनका सामना करनेके लिये अपने अपने भाषिक क्षेत्रमें अच्छी तरह जमे हुए मध्यम पूँजीजीवियोंके सदस्य थे, जो पुनर्गठनके आंदोलनोंकी सक्रिय रूपसे सहायता कर रहे थे।

जहाँ कहीं भाषावादका अतिक्रमण हुआ है, वहाँ साधारणतया बड़े व्यापारियोंका हाथ दिखलाई पड़ता है। उदाहरणके लिये, मुख्य मत्री विधानचंद्र रायने पश्चिम

बंगाल विधान सभाके सामने यह प्रकट किया कि मानभूमि जिलेके बंगाली भाषी चंडिल और पतमाद ताल्लुकोंको पश्चिमी बंगालमें सम्मिलित करनेका कारण यह है कि शक्तिशाली टाटा अपने कारखानेके हितकी दृष्टिसे उन्हें बिहारमें रखना चहाते हैं और केन्द्रीय सरकारने टाटाकी माँग स्वीकार करनेके लिये मेरे ऊपर जोर डाला है ।

तथापि मध्यम पूँजीजीवी भाषावादके सम्बंधमें एक भिन्न प्रकारसे सोचते हैं । उड़ीसाके प्रधान मंत्रीकी पत्नी द्वारा इन हिंसात्मक विद्रोहोंके नेतृत्वका दृश्य इतना विचित्र नहीं था । शीर्षस्थ महाराष्ट्रीय पूँजीजीवियोंने अपने घरोंके अंदर बैठकर अनेक समस्याओं पर परस्पर बुरी तरहसे विभाजित आंध्रके राजनीतिज्ञ तेलंगानाको शामिल करनेके लिये एकमत होकर प्रयत्न करते थे, यह भी आक्षेपका विषय नहीं था । कलकत्ताके एक उपचुनावमें हारकर विधानचंद रायने अपनी समस्त शक्तिके बावजूद भी एकीकरणका विचार त्याग दिया, यह भी कायरताका प्रतीक नहीं था । इतना विस्तृत होनेके बावजूद भी उत्तर प्रदेशने अपनी सीमा विस्तारकी माँगको आगे बढ़ना उचित समझा, इस बातकी भी पागलपन कहकर उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

यह तो उस प्रवृत्तिकी थोड़ी-सी ही झलकें हैं, जो भारतीय प्रगतिको किसी व्यक्ति द्वारा वर्तमान चरणोंमें अनुमानित रूपसे अधिक रूपोंमें प्रतिबंधित करेगी ।

यह वह प्रवृत्ति है, जो अखिल भारतीय बड़े पूँजीजीवियोंके असंतोषका ध्यान न देकर, क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवियोंके हाथमें उपक्रमण सौंपती हैं । भारतकी प्रगतिके लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है । जो कुछ संदेह बाकी है वह भी द्वितीय पंचवर्षीय योजना और उसपर होनेवाले तीव्र और चिंतापूर्ण विवादको देखनेके पश्चात समाप्त हो जायगा ।

पी. सी. महालनोबिस द्वारा निर्मित योजनाके प्रारूपके अंदर उत्तरोत्तर प्रक्रममें अनेक परिवर्तन हुए और मई १९५६ में जो अंतिम रूप संसदके सामने प्रस्तुत किया गया, वह मूलकृतिकी अपेक्षा अधिक बृहदाकार था । तथापि उसका विस्तार कुछ भागोंमें ही हुआ था, जब कि अन्य खंडोंमें उसे संक्षिप्त कर दिया गया था ।

जीवन-स्तर सुधारमें सहायता देनेके लिये राष्ट्रीय आयको अब २५ प्रतिशत बढ़ानेकी योजना है, जब कि प्रथम योजनामें लक्ष्य ११ प्रतिशत थी ।

" तीव्र औद्योगीकरण " का लक्ष्य घोषित किया गया है तथा सार्वजनिक क्षेत्रके उद्योग एवं उत्खननकी उन्नतिके लिये रु. ८९० करोड़ आंके गये हैं । इस बातका विश्वास दिलाया गया है कि अगले पँच वर्षोंमें लगभग ८० लाख नयी नौकरियाँ खोजी जायँगी । और आमदनी तथा धनकी असमानता घटानेकी शपथ मौजूद है ताकि आर्थिक शक्तिका अधिक समान वितरण सम्भव हो सके ।

दूसरे शब्दोंमें, प्रथम योजनाके विपरीत द्वितीय योजनामें उसके उद्देश्योंकी अधिक स्पष्ट और निश्चित घोषणा की गई है । इसके अतिरिक्त शारीरिक लक्ष्य भी प्रथम योजनाकी तुलनामें पर्याप्त ऊँचे हैं । वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्रमें आवंटित धन दुगनेसे भी अधिक है जैसा कि निम्नांकित तुलनासे स्पष्ट है —

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	(करोड़ रुपयोंमें)			
		%		%
१. कृषि और सामुदायिक विकास परियोजना	३५७	१५·१	५६८	११.८
२. सिंचाई और बिजली	६६१	२८·१	६१३	१६·०
३. उद्योग और उत्खनन	१७६	७·६	८९०	१८·५
४. परिवहन और संचार	५५७	२३·६	१३८५	२८·६
५. समाज-सेवा	५३३	२२·६	९४५	१९·७
६. विभिन्न	६९	३·०	९९	२·१
	२३५६	१००·०	४८००	१००·०

इसके अतिरिक्त पिछले पाँच वर्षोंकी विनियोजन प्रवृत्तिको मोटे तौरसे देखते हुए तथा कुछ क्षेत्रोंके ज्ञात विनियोजन कार्यक्रमोंको ध्यानमें रखते हुए, द्वितीय योजना कालके अंदर सार्वजनिक क्षेत्रमें लगाये जानेवाली लागतका सम्भावित स्तर रु. २४०० करोड़ कहा जा सकता है, जिसका विभाजन इस प्रकार है —

	रु० (करोड़ोंमें)
(१) संगठित उद्योग और उत्खनन	५७५
(२) बागान, बिजली व्यवसाय और रेलवेके अलावा अन्य परिवहन	१२५
(३) निर्माण ...	१०००
(४) कृषि और ग्राम तथा लघु उद्योग ...	३००
(५) स्टाक ...	४००
योग	२४००

इनमेंसे कुछ आंकड़ोंको समझने पर मालूम पड़ता है कि उत्पादनमें निम्नलिखित वृद्धि होगी —इस्पातमें १,२५०,००० टनके स्थान पर ४,३००,०००, ढलाई घरोंके होनेवाले कच्चे लोहेमें ३८०,००० टनसे ७५०,००० टन, भवन निर्माण सामानोंमें १८०,००० टनसे ५००,००० टन, भारी इस्पात ढलाईमें न कुछसे १५,००० टन, भारी कुहकरण (फोर्जिंग) में न कुछसे १२,००० टन, कच्चे लोहेके ढलाई घरोंमें न कुछसे १०,००० टन, रेल इंजनोंमें १७५ से ४००, टेक्टरोंमें न कुछसे ३००० सवारीकारोंमें १२,००० से २०,००० और मोटर ठेलोंमें १२,००० से ४०,०००, जीप गाड़ियोंमें न कुछसे ५,०००, जहाज-निर्माणमें ६००,००० टन (१९५१–५६) से ९००,००० टन (१९५६–६१)।

१९६०–६१ तक औद्योगिक क्षेत्रोंमें प्राप्त होनेवाली प्रतिशत वृद्धि भी साधारण तौरपर यथेष्ट प्रभावशाली है। अधिकतर क्षेत्रोंमें शतप्रतिशतसे अधिक और कुछमें दो सौ से तीन सौ प्रतिशत तक वृद्धिकी योजना बनाई गई है। योजनाकालमें देशके अंदर बनाये जानेवाले औद्योगिक यंत्रोंके मूल्यमें भी ५–६ गुनी वृद्धि होनेकी आशा की जाती है।

इसके अतिरिक्त भूमि सुधारके प्रस्ताव भी हैं, जैसे भूमि धारणकी अधिकतम सीमा निर्धारित करना, लगानमें कमी, सामंतवादी भूमि सम्बधोंको नियमित करनेमें सहायता करनेका विश्वास और कृषि पुनःसंघटनसे नई संभावनाओंका मार्ग

खोलना यदि उत्साहपूर्वक इनपर कार्यवाही की गई तो यह सीमित सुधार भी ग्रामीण समुदायकी क्रय शक्ति बढ़ा सकते हैं, एक ऐसा तथ्य जो आगे चलकर नगर क्षेत्रोंकी उन्नतिमें भी सहायता दे सकता है। क्योंकि भारतको ग्रामोंसे ही अपनी राष्ट्रीय उपज-का आधा भाग प्राप्त होता है। विकासशील उद्योगोंकी सहायतासे भूमि और उसकी उपजमें भारी परिवर्तन हो जायगा।

यह विलक्षण योजनायें (विलक्षण इसलिये कि पूँजीजीवियोंकी राजनैतिक संस्थाने इसे प्रस्तावित किया है) अनेक परस्पर विरोधी व्याख्याओंका केन्द्र रही है और रहेंगी। मुख्य रूपसे मत वैपरीत्य निम्नलिखित समस्याओं पर है, जैसे सार्वजनिक और निजी उद्योगोंका सापेक्ष हिस्सा कार्य और महत्त्व, योजनाके लिये धन प्राप्तिके स्रोतों, घाटेके वित्तप्रबंधनकी सुरक्षित सीमा, बेकारी, भूमि-सुधार, भारी उद्योगोंके प्रसारकी दर यातायातके लिये अनुमानित और उत्पादित धनका वितरण।

पी. सी. महालनोबिसने अपनी मूल योजनाके प्रारूपमें सार्वजनिक विकासकार्योंके लिये कुल रु. ४,३०० करोड़ प्रस्तावित किये थे। औद्योगिक प्रसार कुल राशिका २६ प्रतिशत अर्थात १,१०० करोड़ सोख लेता, जिसमें उद्योगके अंदर १,००० करोड़की वास्तविक या स्थिर पूँजी होती। सरकारी सहायताके फलस्वरुप औद्योगिक विनियोजनके निजी क्षेत्रमें रु. ४०० करोड़ तक पहुँचनेकी आशा थी।

सर्वसाधारणके लिये योजना प्रारूपको प्रकाशित करनेसे पहले ही काँग्रेसमें विद्यमान प्रतिक्रियावादी तत्त्वों द्वारा इसकी आलोचना आरम्भ हो गई। औद्योगिक प्रसार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्रको नियामक स्थिति प्रदान करनेके योजकोंके प्रयत्नमें उन्हें भारतीय एकाधिपति हितोंके लिये एक खतरा दीखा।

सार्वजनिक क्षेत्रको नष्ट करना तो लगभग स्वीकृत कर लिया गया था। साथ ही क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवियोंने इस विचारधाराका कोई विशेष विरोध नहीं किया। इस कारण बड़े पूँजीजीवियोंने उसी विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, जिसपर उन्हें मध्यमवर्गका समर्थन प्राप्त होनेकी आशा थी।

प्रथम तो घाटेके वित्तप्रबंधनके खतरोंको रेखांकित किया गया। यह तर्क उपस्थित किया गया कि अत्यधिक आकांक्षा-पूर्ण परियोजनाओंका परिणाम निराश्रित

धन होगा और फलस्वरूप मुद्रास्फीत और तानाशाही नियंत्रण-व्यवस्था स्थापित होगी। मध्यम पूँजीजीवियोंको जब अपने लाभपर प्रतिबंधोंकी सम्भवाना दिखलाई पड़ी, तो उन्होंने भयत्रस्त होकर अन्वीक्षात्मक योजनाके प्रारूपको आगे बढ़ानेमें समर्थन देना बंद कर दिया। योजनाको संकुचित करनेकी माँग उठाई जाने लगी।

इसके बाद दूसरा दाव लगाया गया। यह दोष दिया गया कि सार्वजनिक क्षेत्रके प्रस्तावित प्रसार द्वारा निजी क्षेत्रको गर्दनियां देकर निकला जा रहा है और इस कारण वैयक्तिक उद्यमियोंको विस्तारके लिये पर्याप्त स्थान प्राप्त न हो सकेगा। सार्वजनिक क्षेत्रकी ऐसी निन्दा नीतिज्ञतापूर्ण नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस बातकी सम्भावनाओंपर सर्वसाधारणका ध्यान आकृष्ट हो चुका था और उसने मध्यम पूँजीजीवियोंको भी प्रलोभित कर लिया था। एक तीरसे दो शिकार मारनेके विचारसे यातायात और विशेषरूपसे रेलवेके आवंटनको आलोचनाका एकमात्र विषय बना लिया गया था। वैयक्तिक उद्यमोंका लाभ और व्यापार-विस्तारका अवसर देनेके लिये यातायातकी उन्नति आवश्यक थी। यदि रेल्वेकी संपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी कर दी जातीं तो सार्वजनिक क्षेत्रके अन्य उद्योगोंके लिये बहुत कम राशि बचती और फलस्वरूप योजनाको संकुचित करना पड़ता।

मध्यम पूँजीजीवी, जो अनेकों राज्य नियंत्रित वित्तीय निगमोंद्वारा व्यक्तिगत उद्यमोंके लिये अधिक धन आवंटित करवानेकी योजना पहलेसे ही बना रहे थे, स्वाभाविक रूपसे अपना भाग बढ़ानेके इच्छुक थे। अब तो नवगठित भाषिक इकाइयोंकी सरकारों और विधायकों द्वारा अधिक दबाव डलवाये जा सकनेकी सम्भावना थी। इस प्रकार व्यक्तिगत क्षेत्रको औद्योगिक विकासके लिये अनुपातिक रूपसे अधिक बड़ा भाग दिये जानेकी माँग, जोर पकड़ने लगी।

व्यापारिक संसारकी आयके महत्त्वपूर्ण साधन, बीमा कंपनियों और व्यक्तिगत संचालित बैंकोंके आकस्मिक और अप्रकाशित राष्ट्रीयकरणने टाटा–बिड़ला सरीखे एकाधिपतियोंके हाथमें मध्यमवर्गको डरानेके लिये एक अन्य शस्त्र सौंप दिया यद्यपि बीमा व्यवसायके राष्ट्रीयकरणका प्रभाव एकाधिकारी तत्वोंपर ही पड़ा था और भविष्यमें इसके द्वारा मध्यम पूँजीजीवियोंको अधिक सरकारी धन प्रस्तुत किये

जा सकनेकी आशा थी, तथापि यह धारणा सफलतापूर्वक उत्पन्न की जा सकी कि जब तक द्वितीय पंचवर्षीय योजनामें पर्याप्त परिवर्तन नहीं होता, तब तक वह समस्त पूँजीजीवी वर्गके हितोंके लिये भयका एक कारण रहेगी।

योजनाके प्रारूपमें प्रथम महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस बातकी घोषणा करनेके साथ – साथ कि लक्ष्योंको पूर्व निर्धारित करके योजकोंने वित्तीय स्रोतोंकी खोज करनेमें भूल की है, प्रतिक्रियावादियोंने इस भौतिक योजनाकी "साम्यवाद से प्रभावित" कहकर आलोचना की और इस बातपर बल दिया कि औद्योगिक लक्ष्योंको कम किया जाय। परिवर्तन आरम्भी हुए। यातायातके आवंटनमें रु. ४०० करोड़से अधिक वृद्धि की गई अर्थात इस राशिको रु. ९५० करोड़से बढ़ाकर रु. १३८५ करोड़ कर दिया गया। इस प्रक्रियामें सार्वजनिक विनियोजनका कुल योग रु. ४३०० करोड़से बढ़कर रु. ४,८०० करोड़ तक पहुँच गया। भारी उद्योगोंको यथेष्ट कटौती सहनी पड़ी और रु. २०० करोड़ लागतवाले मशीन-निर्माण-उद्योग कार्यक्रमको हटा ही दिया गया। अन्य परिवर्तन छोटे मोटे थे।

व्यवहारिक शब्दोंमें इसका परिणाम तीव्र भारी औद्योगीकरणको रोकना, भविष्यमें नई नौकरियोंकी सम्भावना घटाना तथा बड़े पूँजीजीवियोंके जीवन-कालको बढ़ाना था।

विशेष गम्भीरताकी बात बेकारीकी समस्या पर पूरा ध्यान न देना था, जिसकी ओर प्रारूपके रचयिताओंने अपने आलोचकोंका ध्यान आकर्षित किया था। देशकी अर्थव्यवस्थाके तत्संबंधित आंकड़ोंके गैर सरकारी विभाजनमें यह चेतावनी सन्निहित है:–

वर्ष	कामगार	आश्रित बेकार
१९०१	५०·१	४९·९
१९११	४९·६	५०·४
१९२१	४८·६	५१·४
१९३१	४७·०	५३·०
१९५१	३९·९	६०·१

वस्तुतः पूर्ण लाभकारी कार्योंमें लगे दोनों कामगारोंकी संख्याका अनुपात कृषि-विषयक और कृषिके अलावा अन्य क्षेत्रोंमें निरंतर गिर रहा था।

वर्ष	कृषिविषयक क्षेत्र	कृषिके अालावा अन्य क्षेत्र
१६०१	३१·२	१८·६
१६११	३४·५	१५·१
१६२१	३३·२	१५·४
१६३१	२६·२	१७·८
१६५१	२८·६	११·३

यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि सामान्य तौर पर प्रत्येक १००० अात्मनिर्भर व्यक्ति ऐसे २,५०० अन्य व्यक्तियोंका पालन करते हैं, जो लाभकारी कार्योंमें नहीं लगे हुए हैं। बढ़ती हुई जनसंख्याकी दृष्टिसे लगभग १०,०००,००० अतिरिक्त स्थान निकालनेका मूल लक्ष्य भी समस्याका केवल ऊपरी स्पर्श ही था। योजनाके परिवर्तनोंने बेकारी–निवारणके लक्ष्यको अधिक दूर कर दिया है।

नौकरीके लक्ष्योंको कमी की तरफ दुहरा दिया गया है अर्थात ११०–१२० लाखों स्थानोंसे घटाकर ८० लाख कर दिया गया है। जिसका विवरण निम्न प्रकार है :—

(संख्या लाखोंमें)

१. निर्माण	२१·००
२. सिंचाई और बिजली	०·५१
३. रेलें	२·५३
४. अन्य यातायात एवं संचार	१·८०
५. उद्योग और खनिज पदार्थ	७·५०
६. कुटीर और लघु उद्योग	४·५०
७. वन, मछली, राष्ट्रीय विस्तार सेवा और अन्य सम्बंधित परियोजनायें	४·१३
८. शिक्षा	३·१०
६. स्वास्थ्य	१·१६
१०. अन्य समाज-सेवायें	१·४२
११. सरकारी सेवायोग १ से ११ तकका	४·३४
	५१·६६
१२. जोड़ों व्यापार और वाणिज्यको शामिल करते हुए अन्य कार्य दर–योगका ५२ प्रतिशत	२७·०४
कुलयोग	७६·०३ या ६ लाख०

सम्भवतया इससे अधिक अवसर वे प्रस्तुत भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि औद्योगिक उन्नतिकी प्राथमिक स्थितिमें अधिक नौकरियोंकी गुजाइश नहीं रहती। इससे तो समस्याके दीर्घकालीन निराकरणमें सहायता मिलती है। वैज्ञानिक योजना निर्माणकी सदैव यही समस्या रही है। इस समयका एक गलत प्रयत्न आगे चलकर परिस्थितिको उलझा सकता है तथा बेकारीकी समस्याको सुधारनेके स्थानपर बिगाड़ सकता है।

उत्पादक कार्य प्राप्त करनेके लिये श्रमको जिस वस्तुकी आवश्यकता है, वह है कामके औजार और उपस्कर। अविकसित देशमें इन्हीं वस्तुओंकी कमी होती है। यही कारण है कि बेकारी-समस्याके दूरवर्ती निराकरण हेतु पूँजी-प्रतिष्ठानोंका इतना भारी महत्त्व है।

पूर्वकालमें विकसित देश पिछड़े देशोंमें पूँजी उधार देकर उन्नतिमें सहायता करनेके लिये तैयार रहते थे, लेकिन तभी जब कि इससे उनका हित-साधन होता हो। इस तरह, जिन खनिजोंकी जरूरत स्वयं औद्योगिक देशोंको पड़ती थी, उनके उत्खननके लिये तथा ऐसे ही और कच्चे सामानके विकास, उसको ढोनेवाले यातायात और कच्चे सामानसे बने उत्पादनको खपानेके लिये नये बाजार खोलनेको पूँजी और उपस्कर उधार दिये गये। यह सर्व विदित है कि अविकसित देश ऐसी पूँजी किन शर्तोंपर और किस सामाजिक मूल्यपर प्राप्त कर सके।

यदि प्रगतिका लक्ष्य प्राथमिक रूपसे जनताका ही लाभ हो तो पूर्णरूपेण भिन्न प्रकारकी योजना बनानी चाहिये। उसे भारी उद्योग और मशीन निर्माणसे कृषि और उद्योग दोनों ही क्षेत्रोंमें मशीन और अच्छी टेकनिककी सहायतासे विभिन्न क्षेत्रोंकी उत्पादकतामें क्रमिक वृद्धिकी ओर अग्रसर होना चाहिये। भविष्यमें ऐसी प्रगतिके लिये योजना प्रारूपमें गहरी नींव रखी गई है, जिसमें संकेत है कि वास्तविक पूँजी रचना और स्थायी उत्पादक संपत्ति बनानेके लिये रु. ३,४०० करोड़को उद्व्यय किया जायगा, जिससे निरंतर उन्नतिका आधार प्राप्त हो सके।

लेकिन सरकार पर सभी प्रकारके दवावका प्रभाव पड़ा और इस प्रक्रियामें कुल लागत रु. ४,८०० करोड़से ऊपर निकल गई है तथा उसके और भी अधिक वढ़नेकी पूरी आशा है । भारतवासियोंकी सामर्थ्यको देखते हुए यह बहुत कम है, लेकिन सरकारके वर्तमान प्राप्य साधनोंको देखते हुए वहुत अधिक है, क्योंकि सामाजिक और राजनैतिक बचन-बद्धता और उलझनोंसे वह सीमित हो जाती है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि आयोजित उद्व्ययमें बार-बार वृद्धि की गई थी, तथापि उसका लक्ष्य योजनाके मूल उद्देश्यको आगे बढ़ाना नहीं था । अब जिस भारी व्ययका प्रस्ताव किया गया है, उसमें पूँजी निर्माणकी व्यवस्था मूल योजनाकी प्रस्तावित राशिसे भी कम है, जो आर्थिक प्रगतिको निश्चित करेगी ।

लेकिन समस्त चेतावनीकी ओरसे आँखें बंद किये हुए विजयी प्रतिक्रियाने इस प्रश्न पर संघर्ष जारी रखा कि रु. ४३,०० करोड़से बढ़ाकर रु. ४८,०० करोड़ किया जानेवाला उद्व्यय किस प्रकार वितरित किया जाय । स्वभावतया इसका मुख्य उद्देश्य राज्य संचालित औद्योगिक प्रसारको अवरोधित करके निष्क्रिय करना तथा अर्थ-व्यवस्थाके औद्योगिक आधारको अंतर्ध्वस्त करनेके लिये विनियोजनका ऐसा ढंग थोपना था, जो पैसेवालोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये सभी तरहके उपभोक्ता सामानको अधिक प्रस्तुत करनेका विश्वास दिलाये जानेके कारण अधिक आकर्षक मालूम पड़े, लेकिन जो वास्तविक उन्नति और अधिक उत्पादक नौकरीके अवसर घटाता हो ।

योजनाके अंतमें जितनी नौकरियोंका विश्वास दिलाया गया है, उसमें यथापूर्व स्थित कायम रखने और बेकारीकी समस्याको अधिक न विगड़ने देनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । जिन नये स्थानोंको बनाना है, उनके विवेचनसे यह पता चलता है कि अर्थ-व्यवस्थाके वर्तमान ढाँचे पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ेगा और अन्य उत्पादक या अनुत्पादक व्यवसायोंमें लगे हुए लोगोंके अनुपातमें कोई परिवर्तन नहीं पड़ेगा ।

ध्यान देने योग्य बात है कि अधिकतम काम दिलानेकी एकमात्र मदकी संख्या १२—"व्यापार और वाणिज्यको शामिल करते हुए अन्य कार्य हैं ।" पिछली जन-

गणनाके समय विभिन्न व्यवसायोंमें लगे हुए आदमियोंका भी वितरण लगभग इसी अनुपातमें था। वस्तुतः इस अनुपातको जनगणनासे ही लिया गया है और नौकरीके अवसरोंका अनुमान भी इसी आधार पर लगाया गया है कि यह अनुपात अपरिवर्तित बना रहेगा।

प्रगतिके लिये यह आवश्यक है कि लोगोंको उत्पादक कार्योंमें अधिकाधिक संख्यामें लगाया जाय और अनुपादक कार्यों तथा व्यापार और वाणिज्यके क्षेत्रमें भीड़ भाड़ करनेवाले लोगोंका अनुपात निरंतर घटाया जाय। जब कि योजनाके प्रारूपमें व्यापार और वाणिज्य प्रत्येक स्थानके विपरीत औद्योगिक क्षेत्रमें दो स्थान रखे गये थे, वहाँ योजनाके अतिमरूपमें यह अनुपात उलट दिया गया और अब व्यापार और वाणिज्यके दो स्थानोंके मुकाबलेमें औद्योगिक क्षेत्रमें स्थान रक्खा गया है।

इस योजानामें नौकरीके स्थानोंका लक्ष्य न्यून और अपर्याप्त होनेके साथ साथ काफी बढ़ाकर दिखलाया गया है। नये बनाये जानेवाले स्थानोंमें अनेकोंके रूप परिवर्तित स्थान होनेका संदेह है।

उलझनमें पडे तथा नये भाषायी राज्योंमें भारी शक्ति प्राप्त होनेकी कल्पना करनेवाले मध्यम पूँजीजीवी हैरान थे कि किस ओर कदम बढ़ाया जाय। यदि वे सरकार चालित भारी औद्योगिक कार्यक्रमको रद्द करनेकी माँगका समर्थन करते हैं तो उन्हें अपने क्षेत्रमें चलाये जानेवाले सरकारी उद्योगोंसे प्राप्त होनेवाले लाभोंसे वंचित होना पड़ेगा। वस्तुतः उन्हें अपने आपको बड़े-बड़े निजी संचालकोंकी धुनके भरोसे सौंपना पड़ जायगा।

योजनाके विषयमें होनेवाली आलोचनाका प्रतिकार करने, और उसके ह्रासको रोकनेके लिये नेहरूने एक नयी औद्योगिक नीतिकी घोषणा की। यह समय अर्थात् अप्रैल १६५६ बड़ा मौकेका था, क्योंकि इस समय मतभेद पूरे जोरों पर थे।

इस प्रस्ताव द्वारा १६४८ की पूर्व घोषणामें सुधार किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र सूचीमें कुछ नये उद्योगोंको जोड़ा गया। तथापि यह कहा गया कि व्यक्तिगत क्षेत्रको

शक्तिपूर्ण होने दिया जायगा और विशेष परिस्थितियोंमें उन्हें उन क्षेत्रोंमें भी कार्य करनेकी अनुमति दे दी जायगी, जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्रके लिये अनुरक्षित कर दिया गया है।

इस प्रस्तावका छोटे—बड़े सभी व्यापारिक क्षेत्रोंमें हार्दिक स्वागत हुआ। यह स्वागत केवल इस मुक्तिसे होनेवाली प्रसन्नताका सूचक था कि अंततः सरकार अपने संचालन-क्षेत्रको सीमित करनेके लिये विवश कर दी गई। क्योंकि उस समय अधिकतर लोगोंकी यही धारणा थी कि भारी परिवर्तनोंकी योजना बन रही है। इस प्रस्तावका अर्थ यह आश्वासन माना गया कि राज्य-संचालित सार्वजनिक क्षेत्र, व्यक्तिगत उत्साहियोंके कार्योंपर कोई रोक नहीं लगायेगा। क्षेत्रीय मध्यम पूँजी-जीवियोंने सोचा कि उन्होंने सरकारको बहुत आगे न बढ़नेकी चेतावनी देकर बहुत ठीक किया है।

लेकिन एकाधिकारी तत्त्वोंने अपना आक्रमण जारी रक्खा। उन्होंने रेलवे और यातायातके लिये अधिक आवंटनकी इस आधारपर माँग की, कि तीव्र विकासशील अर्थ-व्यवस्थाकी अवश्यकताओंकी पूर्ति हेतु वर्तमान सुविधायें अपर्याप्त हैं। इसके लिये रु. ४०० करोड़ अतिरिक्त दिये गये थे। फिर भी वे संतुष्ट नहीं थे। योजना आयोगसे त्यागपत्र देनेकी भी धमकी दी गई थी। यातायातके लिये इतनी भारी चिंताका कारण कुछ तो स्वार्थ पूर्ण था, क्योंकि निजी क्षेत्रोंको यातायातकी प्रगतिके पश्चात नये बाजारोंमें लाभकी संभावनायें दीखीं तथा कुछ यह भी कारण था कि वह एक ऐसा परदा था, जिसकी आड़में उन्हें देशकी राज्य संचालित तीव्र औद्योगिक प्रगतिको अतर्ध्वस्त करनेकी आशा थी। यह अभियान जारी है लेकिन अब यह धीमा पड़ गया है। वास्तविकता अब पूर्ण स्पष्ट दीखती है।

यदि रेलोंके पास द्वितीय योजनाकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये धन नहीं है तो वह रियायतें और छुट्टीके दरम्यान रियायती वापसी टिकट जारी करके इतन भारी नुकसान सहना क्यों स्वीकार करती हैं? वे वातानुकूलित डिब्बोंकी संख्या बढ़ाने तथा पूर्ण वातानुकूलित गाड़ी जारी करनेके प्रश्न पर इतना ध्यान देनेका क्या

कारण बतला सकते हैं, जिसे युरोपीय पर्यटकोंने विलास-यात्राका श्रेष्ठतम साधन बतलाया है? क्या रेलद्वारा तीर्थोंकी यात्राका प्रबंध योजनाके अंतर्गत यातायातका परमार्थिक कार्य नियत किया गया है? क्या दिनों-दिन बढ़ती अकुशलता वर्तमान सुविधाओंके पूर्ण प्रयोगको अवरोधित नहीं करती? दुहरी लाइन बिछानेकी क्या आवश्यकता है, जब कि आसानीसे लगाई लूप भी यही कार्य कर सकती हैं? यदि चीन अपने देशमें स्थित सीमित रेल मार्गोंपर अंधाधुंद व्यव किये बिना ही अपनी अर्थ-व्यवस्था और व्यापारकी उन्नति कर सकता है, तो भारतको क्या बाधा है?

यह प्रश्न और इसी प्रकारके अन्य प्रश्नोंका आसानीसे उत्तर नहीं दिया जा सकता। साथ ही परिवहन और संचारके लिये पूर्व स्वीकृत व्यय अर्थात् रु. १३८५ करोड़ या यों कहिये कि कुल उद्व्यय का लगभग २६ प्रतिशत, किसी एक कार्यके लिये अधिकतम आवंटित राशि है, और फलस्वरूप योजनाके अन्य भागोंको बुरी तरह काटना पड़ा है। अंग्रेजोंने १०० वर्षोंमें भी रेलोंपर इतना अधिक व्यय नहीं किया था।

एक अन्य आरक्षित आयुध, अन्य मोर्चेके लिये अधिक, आवंटनकी माँग है तथा १६५६ में मूलखाद्यान्नोंकी मूल्यवृद्धि इस माँगके प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की गई।

सभी इष्ट प्रकारकी कूटनीतियोंका उपयोग हो रहा है। यहाँ तक कि तथाकथित "स्वतंत्र व्यवसाय मच" की ओर से समाचारपत्रोंमें साधनहीन पूँजीपतियोंकी दुरावस्था दिखलानेके लिये विज्ञापनोंके द्वारा दर्दभरी पुकार उठाई जाती है। इस 'मंच'के प्रमुख पृष्ठपोषक भारतीय एकाधिपति और विदेशी व्यापारिक संस्थान हैं। अपने साथमें वे अधिकतर मध्यम वर्गको भी ले लेते हैं, क्योंकि अपनी सभ्रांतिमें ये लोग सोचते हैं कि जिस क्षेत्रमें प्रवेश करनेकी ओर उनकी आंखें लगीं हुई हैं, उसमें सरकारी दखलको रोकनेके लिये कुछ न कुछ अवरोध आवश्यक है। 'गठबंधन' कितने दिन रहते हैं, यह इसी बात पर आधारित है कि बड़े पूँजी-जीवियों और विदेशी व्यापारियोंकी इनकार गुजारियोंका वास्तविक उद्देश्य, योजनाके प्रतिपादक कितनी जल्दी खोलते हैं, क्योंकि सीमेंटका राज्य द्वारा व्यापार करवे

और राज्य संचालित इस्पात वितरण कार्यको हाथमें लेनेसे छोटे-मोटे औद्योगिकोंको अनेक लाभ प्राप्त हो सकते हैं ।

इस आक्रमणकी गंभीरता इसी बातसे स्पष्ट हो जाती है कि आरम्भमें क्या विचार थे और अब उनका कितना अंश बचा है । भारतीय और विदेशी अर्थशास्त्रियोंका एकमतसे समर्थन प्राप्त महालनोबिस द्वारा निर्धारित योजना-नीतिमें सभी भारी उद्योगों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगोंको सार्वजनिक क्षेत्रके लिये आरक्षित कर दिया गया था । योजनाके प्रारूपमें उद्योग हेतु आवंटित रु. १,४०० करोड़मेंसे रु. १,००० करोड़ सार्वजनिक क्षेत्रके लिये और रु. ४०० करोड़ निजी क्षेत्रके लिये नियत किये गये थे । इन रु. ४०० करोड़मेंसे भी आधी राशि लघु एवं कुटीर उद्योगोंके लिये थी । लेकिन अब उत्खनन एवं उद्योग हेतु सार्वजनिक क्षेत्रीय विनियोजनको घटाकर रु. ८६० करोड़ करनेका निश्चय हुआ है, जब कि निजी क्षेत्रमें एतदर्थ आवंटन बढ़ाकर रु. ७०० करोड़ कर दिया गया है ।

दुखकी बात है कि देशके वैज्ञानिक योजना समर्थक महालनोबिस द्वारा रचित मूल योजनाके प्रारूपके पक्षमें जनमतका निर्माण न कर सके । यदि वे ऐसा करते तो इस बातकी पूरी आशा थी कि एकाधिकारी हितोंके नेतृत्वमें किये जानेवाले आक्रमणके सामने सरकारको घुटने न टेकने पड़ते । साम्यवादी पार्टी भी सम्भावित आत्मसमर्पणको रोकनेके लिये सार्वदेशिक जनमत संगठनकी आवश्यकताको न देख सकी ।

अंततोगत्वा, यह आत्मसमर्पण भी प्रथम योजनाकी अपेक्षा प्रगतिशील थी । और इसका एक मात्र कारण यह है कि योजनाका स्वरूप अधिक सुस्पष्ट है तथा राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्थाके मूल केन्द्रोंपर क्रमशः या शीघ्रतासे नियत्रण प्राप्त करनेकी आवश्यकताको अधिकतर स्वीकार कर लिया गया है ।

इस बृहत योजनाके उद्व्ययकी वित्तीय पूर्ति कैसे होगी ? वर्तमान संभवनाओंको दृष्टिगत रखते हुए, आइये, उन पर विचार कर लें ।

		रु. (करोड़में)
१ चालू राजस्वसे बचत		८००
(क) (१६५५–५६) में विद्यामान करकी दरसे	३५०	
(ख) अतिरिक्त कर	४५०	
२ जनतासे ऋण		१२००
(क) बाजार ऋण	७००	
(ख) अल्प बचतें	५००	
३ अन्य आय–व्ययके साधन		४००
(क) विकास कार्यक्रममें रेलोंका अनुदान	१५०	
(ख) निर्वाह निधि तथा अन्य कोष	२५०	
४ विदेशी साधन		८००
५ घाटेका वित्तप्रबंधन		१२००
६ रिक्तता जिसकी पूर्ति स्वदेशी साधनोंसे अतिरिक्त उपायों द्वारा करनी है।		४००
		योग ४८००

द्वितीय योजनाके लक्ष्य प्राप्त करनेके लिये रु. १,२०० करोड़ तक घाटेके वित्त-प्रवंधन और रु. ८०० की विदेशी सहायताका विश्वास किया गया है। इसे रु. २,००० करोड़ तक 'रिक्तताकी पूर्ति' कह सकते हैं। इसके साथ रु. ४०० करोड़की बतलाई गई 'रिक्तता' को जोड़नेसे कुल योग रु. २,४०० करोड़की हो जाता है। अर्थ-शास्त्रियोंका विश्वास है कि योजनाके लागू होनेके पश्चात इस राशिमें यथेष्ट वृद्धि हो जायगी। इसे ढूँढ़ना ही पड़ेगा, अन्यथा देशको गम्भीर आर्थिक संकटका सामना करना पड़ेगा।

तथापि यह धारणा बनानेका कोई कारण नहीं दीखता कि यह राशि अथवा इससे अधिक राशि अप्राप्य होगी। घाटेके वित्तप्रबधनकी नीति निश्चित रूपसे अनावश्यक आकांक्षा-पूर्ण नहीं है, बशर्ते कि सरकार आवश्यक उपाय करनेको तैयार हो। जहाँ तक विदेशी सहायताका प्रश्न है, शांति और सद्भावनासे परिपूर्ण नवीन अंतर्राष्ट्रीय

वायुमंडल निश्चित रूपसे आर्थिक सहायता प्राप्तिको सुलभ बनाता है, विशेष तौरपर उस समय जब कि सोवियत संघने यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि भारतीय मॅांगोंको पूरा किया जायगा।

'रिक्तता की पूर्ति' चिंताका कोई कारण नहीं है, बल्कि चिंता इस बातकी ही है कि मूल्यों पर नियंत्रण रखनेके लिये क्या आवश्यक उपाय किये जायँ। घाटेके वित्तप्रबंधनका दुष्प्रभाव विदेशी सहायता तब तक दूर नहीं कर सकती, जब तक कि योजनाके मूल उद्देश्यका बलिदान न कर किया जाय। इस बातको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

आजकल माल तोप. हलेसे ही कम है। साथ ही औद्योगिक विस्तार हेतु किया जानेवाला भारी परिव्यय प्रगतिकी प्रारंभिक अवस्थामें उपभोक्ता वस्तुओंकी उत्पत्तिमें कोई विशेष वृद्धि नहीं कर सकता। मुद्रास्फीतका भय सतत विद्यमान है। योजना-प्रमुख इस बातको समझनेका कोई प्रयत्न करते नहीं दिखलाई पड़ते कि अन्न-आयातमें विदेशी विनिमयके अपव्यय द्वारा अथवा योजना कार्यक्रमके अन्य भागोंमें उलट फेर करके मिल-उद्योगके तदर्थ प्रसार द्वारा अन्न और वस्त्रके मूल्यों और निर्वाह मूल्यपर, रोक नहीं लगाई जा सकती। जन साधारणके जीवनकी न्यूनतम आवश्यताओंकी पूर्तिको सुनिश्चित करनेके लिये वे कंट्रोल लगाने और वितरण पर नियंत्रण करनेकी आवश्यताको अनिश्चित काल तक स्थगित नहीं करते रह सकते।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाके सम्बंधमें अंकशास्त्री तर्क करते हैं कि जब किसी भारतीय परिवारमें बचत होती है तो परिणाम स्वरूप सबसे पहले कपड़ेका क्रय बढ़ता है और उसके पश्चात बीमारियोंको दूर करनेके लिये भेषजों एव औषधियोंकी ओर आकर्षण होता है। यदि हम इस अस्पष्ट सिद्धांतको स्वीकार कर लें, तो भी इस बातकी क्या गारंटी है कि लोगोंकी आवश्यकताके अनुरूप कपड़े और औषधियाँ उन क्षेत्रोंद्वारा उत्पादित की जायँगी जिनपर लोगोंके व्यक्तिगत अधिकार हैं।

कपड़ेका ही प्रश्न ले लीजिये। उत्पादनमें भारी वृद्धि होगी, लेकिन यदि पूर्व अनुभव, विशेषरूपसे युद्धकालीन अनुभव संकेतक हों, तो इसी बातकी संभावना है कि वस्त्र-उद्योग अच्छे प्रकारके और ऊंचे मूल्यके कपड़ोंके बनानेके विषयमें ही

सोचेगा, क्योंकि इसमें अधिक लाभकी गुंजाइश होती है। इस उद्योगको प्रतिमानित ढंगके सस्ते कपड़े बनाने पर विवश करनेके सभी प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, क्योंकि मिलमालिकोंके लाभ उठानेकी प्रवृत्ति और तथाकथित 'भले मानसोंके समझौतोंके पालनसे बचनेकी बहानेबाजी इन प्रयत्नोंको निरर्थक कर देती है।

वस्त्र-उद्योगके अधिपतियोंकी गणनामें सस्ते और टिकाऊ कपड़े बनानेकी आवश्यकता महसूस करनेके कोई चिन्ह नहीं दिखलाई देते। शेयर बाजारके आंकड़ों पर दृष्टि डालनेसे यही प्रतीत होता है कि प्रचुरता प्राप्त होनेवाली है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, क्योंकि प्रतिमानित वस्त्रनिर्माण तथा उत्पादनको अन्य प्रकारसे नियमित करके वस्त्रोंके मूल्य घटानेकी बात तो दूर रही, सरकार इस बातको सुनिश्चित करनेकी न तो इच्छा ही रखती है और न वह ऐसा कर ही पाती है कि दर आयोग द्वारा निर्धारित उचित लाभ पर कपड़ा बिके।

योजक हाथकरघा और खादीके उत्पादन द्वारा देशमें कपड़ोंकी पूर्ति बढ़ाना चाहते हैं और साथ ही साथ यह भी दिखलानेमें सफल हो जाते हैं कि परिणाम स्वरूप लाखों आदमियोंको काम मिल जायगा। यह सही कदम है, जिसे औद्योगीकरणकी ओर अग्रसर होनेकी प्रक्रियामें किसी पिछड़े हुए देशको लेनेका पूरा अधिकार है। तथापि यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हाथसे बने और खादीके कपड़ोंका मूल्य अक्सर मिलोंमें बने कपड़ेसे अधिक होता है। दूसरे शब्दोंमें कैसा भी अंबर चरखा इस कठोर आर्थिक तथ्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता कि हाथसे बनी चीज मशीनोंसे बनी चीजकी अपेक्षा कभी सस्ती नहीं हो सकती। योजक यदि चाहते हों कि द्वितीय योजना-कालमें बननेवाली अतिरिक्त क्रयशक्तिका कुछ उपयोग वस्त्रोंमें हो, तो उन्हें राजसहायता बढ़ानी पड़ेगी, लेकिन यह बात तब तक पर्याप्त नहीं हो सकती जब तक कि इन दोनों क्षेत्रोंका उत्पादन नियंत्रित वितरणकी किसी सामान्य योजनामें विलीन न हो जाय।

इसके अतिरिक्त हाथकरघे और खादीके कपड़ोंके उत्पादनमें अभिवृद्धि करनेवाले लाखों आदमियोंको स्वयं अपने लिये उस सामानकी आवश्यकता होगी, जिसे वे अपनी क्रयशक्तिके अभावमें अब तक प्राप्त नहीं कर पाते थे। निश्चितरूपसे वे केवल वस्त्रों और औषधियोंसे ही संतुष्ट नहीं होंगे। समृद्धिके दर्शन करने-

वाले ग्रामीण क्षेत्रोंमें भारी संख्यामें केन्द्रित होनेके कारण संभावना यही है कि उनके विचार कृषिके अच्छे औजारों और उपस्करोंको प्राप्त करनेकी ओर उन्मुख हों। यदि सब बातें ठीक तरहसे होती हैं तो गाँवोंमें अतिरिक्त धन प्राप्त होनेके उपरांत योजकोंको इस माँगका गंभीरतापूर्वक सामना करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त धनको उत्पादककार्योंमें प्रवाहित करनेके लिये संगठित प्रयत्नकी आवश्यकता है, जिसे अब तक हाथमें नहीं लिया गया है।

भेषजों और औषधियोंका प्रश्न तो एक उदाहरण स्वरूप है। राज्य रोगाणु-नाशक और शुल्वमीगंधक आदि भैषजोंके सस्ते उत्पादनको हाथमें ले सकता है, लेकिन अब तक उसने अधिकसे अधिक विदेशी साधनोंके आधार पर वर्तमान आवश्यकताओंको पूरा करनेकी ही योजना बनाई है। यदि इस मदके अंतर्गत होनेवाले आयातका अनुमानित मूल्य देखें तो यह रकम रु. २० करोड़ प्रतिवर्षके लगभग बैठेगी और खरीदनेमें समर्थ होने पर औषधियोंके बाजारमें भीड़भाड करने-वाले लाखों व्यक्तियोंके आनेपर क्या होगा? आर इस माँगका पथप्रदर्शित करनेके लिये स्वास्थ्यसेवायें कहाँ हैं? ऐसे अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अविकसित भारतमें सामाजिक व्यवहारके ढंग और आंकड़े जितने उलझे हुए हैं, उनको देखते हुए योजकोंकी सभी संगणना गलत हो सकती है, क्योंकि घाटेका वित्तप्रबंधन तब तक सदैव अज्ञात शक्ति ही रहेगी, जब तक कि क्रय-शक्तिको निर्देशित और नियन्त्रित करनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। संतुलित मस्तिष्कसे योजनानुसार विकास-हितोंका अधिकतम ध्यान रखते हुए यह कार्य जानबूझ कर करना आवश्यक है। मुद्रास्फीत विषयक सभी ज्ञात उपचारोंको केवल इस बुद्धिहीन आधारपर त्यागनेका अर्थ, कि इसके फलस्वरूप सैनिकीकरण होता है, कुएँसे निकलकर खाईमें कूदना है।

यदि मुद्रास्फीतकी यात्रा एक बार भी प्रारम्भ हो गई तो वह योजनाको ही उप-हासास्पद बना डालेगी। राजस्व और अतिरिक्त कर के लक्ष्य व्ययसे कम पड़ जायँगे। सामानकी कमी प्रभावमूल्योंमें वृद्धि होगी। परिवारके आयव्ययक पर दबाव पड़नेसे वेतनवृद्धि आंदोलनको प्रेरणा मिलेगी। एक बातसे दूसरीका पोषण

होगा। और यदि मानसून असफल रहे और अन्नसंकट उपस्थित हुआ, तो सामान्यरूपसे असमन्वित अत्यधिक कठोर और निरंकुश उपचारोंको काममें लाना पड़ेगा। खतरा यही है कि कहीं नियंत्रण प्राप्त न हो सकनेवाली ऐसी परिस्थितिका सामना होनेपर सरकार भयभीत होकर और योजनाको रद्द करनेके बारेमें न सोचने लगे।

इनका तथा इनसे सम्बधित अन्य तथ्योंका सामना न करनेका मुख्य कारण प्रथम योजना और उससे प्राप्त सफलताओंका ऊपरी विवेचन है। अधिकतर लोग इस बातपर विश्वास करते हैं कि भारत अपने लिये प्रचुरताका नया मार्ग बना रहा है। परंतु मानसूनोंके असामान्य रूपसे अच्छे रहनेको बधाई देनी चाहिये, जिसके कारण प्रथम योजना प्रमुखरूपसे अपने स्तरको कायम रखनेमें सफल हो सकी। फिर औद्योगिक प्रसारकी ओर भी ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया। कोरियामें होनेवाले प्रत्यावर्तनके समय प्रथम योजना संचालित हुई और इस कारण अर्थ-व्यवस्था सीमित रूपमें किये जानेवाले घाटेके वित्तप्रबंधनका सामना कर सकी। इतना होते हुए भी एक बारके केवल एक अनावृष्टिसे ही समस्त लाभ समाप्त हो सकते थे।

सौभाग्यवश यह नहीं हुआ। विशेष तौरपर कृषिके लाभ सुदृढ़ हुए और इस प्रकार एक वास्तविक योजनाकी नींव पड़ गई। वास्तविक? हाँ। योजना वैज्ञानिक ढंगसे ही बनी थी, वह परस्पर विरोधी विचारोंका समूहमात्र ही न था। महालनोबीस और उनके साथियोंका यही स्पष्ट उद्देश था। योजनाके प्रारूपके साथ जो अन्याय हुआ है उसे सुधारनेके लिये भी अधिक देर नहीं हुई है।

तथापि यह तभी संभव हो सकता है, जब कि आलोचक वित्तीय प्रश्नोंसे सम्बंधित विषयोंके लगावसे ऊपर उठकर मौलिक प्रश्नोंपर ध्यान केन्द्रित करें। योजनाकी आयके साधन खोजते समय इस प्रश्नपर मतभेद होना कि गरीबों और अमीरोंमेंसे किसपर कर लगाया जाय, वास्तवमें भ्रमपूर्ण है।

विशेष तथा बिक्रीकर आदिके जरिये गरीबों पर तो उनकी क्षमताके अनुसार भी पूरा कर लगाया जा रहा है। राजस्वका प्रमुख भाग भी प्रत्यक्ष करोंसे ही प्राप्त होता है। जहाँ तक रईसोंका प्रश्न है, उनसे बहुत कुछ प्राप्त हो सकता है, परंतु कराधान

यंत्रकी न्यूनताओंके कारण यह बात असम्भव हो जाती है। अनुभव यह बतलाता है कि बड़े आदमियों पर जितना अधिक कर लगाया जाता है, उतना ही अधिक वे उसे टालते हैं। जब तक इस टालनेको जेलमें डालने योग्य अपराध घोषित नहीं किया जाता, तब तक इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि हमें इस क्षेत्रसे योजनाके लिये साधन प्राप्त हो सकेंगे।

अगले पाँच वर्षोंमें कराधान यंत्रके आदर्श बन जानेकी बहुत कम आशा है। निधिके बिना सरकार विदेशी सहायता द्वारा इस रिक्तताकी पूर्तिका प्रयत्न करेगी। मुद्रास्फीतकी प्रवृत्तियोंके विकसित होते ही घाटेके वित्तप्रबंधनको रोका जायगा। विदेशी ऋणोंकी खोज होगी। ख्रुश्चेवने विकसित औद्योगिक राष्ट्रोंसे अर्द्धविकसित देशोंके साथ 'मित्रता प्रतियोगिता' करनेकी जो माँग रक्खी है, वह अपना प्रभाव डालेगी।

संयुक्त राज्यका परराष्ट्र विभाग इस बातको स्वयं स्वीकार करता है कि सोवियत संघ पिछड़े हुए क्षेत्रोंकी सहायताके लिये एक विशाल सहायता योजना बना रहा है, साथही इस बातकी भी बार-बार चेतावनी दी जाती है कि अमेरिकाको भी इस प्रयत्नकी बराबरी करनी चाहिये। यदि अपेक्षित विदेशी सहायता प्राप्त नहीं हुई, तो भारत भी मिश्रके राष्ट्राध्यक्ष नासिरका अनुगमन कर सकता है, जो अपने देशमें स्थित विदेशी पूँजीको हस्तगत करके आवश्यक निधि पाना चाहते हैं।

अंततोगत्वा भारतीय प्रगतिकी योजना सुदृढ़ होनी चाहिये। उसे नियंत्रित और समन्वित करना चाहिये। भारत स्वयं अपने प्रयत्नोंका भरोसा करके यह सब कर सकता है।

किसी सीमा तक प्रथम योजनाके अनुभवसे हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिये थी। देशके विभिन्न भागोंमें तरह-तरहकी जमीनोंके सफेद उर्वरककी कितनी आवश्यकता है, इस प्रश्नकी साथ साथ विवेचना किये बिना ही दैत्याकार सिंदरी उर्वरक कारखाना खड़ा कर दिया गया। प्रतिवर्ष वनमहोत्सवका आयोजन होता है। हजारों व्यक्ति नये वृक्षोंका रोपण करते हैं, जो बिना पानी और देख-रेख नष्ट हो जाते हैं। यह हरियाली-पट्टी जो हमारी भूमिकी रक्षा करनेमें समर्थ है, जन्मते ही नष्ट हो जाती है। संसारकी कुछ सुंदरतम वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंका निर्माण हुआ है, परंतु

वैज्ञानिकोंके कार्यको राष्ट्रीय आवश्यकताओंसे शायद ही कभी संयुक्त किया जाता हो। हमने विशाल चित्तरंजन रेल इंजन कारखाना बना डाला, लेकिन इस बातको भूल गये कि बाष्प इंजनोंका स्थान अब डिजिल इंजनने ले लिया है। इस्पात और सीमेंट दोनोंकी ही कमी है, किन्तु हम उसे उन विलास गृहों और विशाल कारखानोंके बनानेमें नष्ट कर रहे हैं, जिन्हें सहना राष्ट्रकी सहनशीलतासे परे है। हम मोटर जोड़नेकी मशीनोंका आयात करते हैं, किन्तु समस्त देशमें बिखेरकर केवल उनकी क्षमताके ४० प्रतिशतका ही उपयोग कर पाते हैं, किन्तु किसी सीमा तक संयुक्त करनेके उपरांत हम मोटर और मोटर ठेलोंमें आत्मनिर्भर बन सकते थे। सभी उद्योगोंके कारखानों और काम-घरोंमें उत्पादन बढ़ा सकता है, लेकिन इस अवस्थाको मिटानेकी कोई चिंता ही नहीं करता, जब कि विदेशी विशेषज्ञोंने अनेक प्रतिवेदनोंमें इस असंतोषप्रद परिस्थितिकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। पिछले एक या दो वर्षोंके अंदर कुछ उद्योगोंके उत्पादनमें ५० से १०० प्रतिशत तक वृद्धि हुई है। जहाँ तक बहु प्रयोजनीय प्रायोजनाओंसे प्राप्त बिजलीका प्रश्न है, उसका उपयोग होता है, पर सदैव सर्वोत्तम लाभ हेतु नहीं। यह सूची लम्बी और अनंत है।

जब तक कि योजकों और प्रशासकोंके पुराने आराम तलबीके दृष्टिकोणको दूर करनेका कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक संतुलन, सहयोग और स्वरूपकी इस न्यूनताकी कहानीका द्वितीय योजना-कालमें पुनरावर्तन होता रहेगा। भारतकी प्रज्ञा और वसीयत चाहे जैसी हो, लेकिन इस कार्यको संपन्न करनेका केवल एक ही मार्ग है। योजनाको लागू करने और उसके विवेचनके प्रत्येक स्तर पर लोगोंको साथ लेना ही चाहिये। दैनिक कार्य और संघर्षसे अर्जित होनेवाला उनका अनुभव, उनकी आवश्यकतायें, उनका ज्ञान ही है, जो इस दिशामें अभ्रांत घेरेबंदीका कार्य कर सकता है।

अंग्रेजोंने इस भूखंड पर देशका धन चूसनेके लिये शासन किया। उन्हें इस बातसे कोई मतलब नहीं था कि जनता क्या सोचती है। स्वतंत्र भारतका प्रशासन भी राष्ट्रीय जीवनके किसी भी स्तर पर वादविवाद किये बिना ही योजना बनाता है

और नीति निर्धारित करता है। राजनैतिक पार्टियोंके नेताओं और संसद् सदस्योंके बीच होनेवाला समझौता ही प्रजातंत्रमें सब कुछ नहीं है।

शीर्षस्थ व्यक्ति लाल फीतेके भेदोंको क्या जान सकते हैं? दफ्तरमें क्लर्कोंसे यह बात पूछिये। उनके पास अनेक उपचार हैं। यदि कालेबाजार पर रोक लगाई जाती है, तो सामान मिलना एक समस्या हो जाती है। सचिवालयके तर्क-वितर्कों द्वारा इस समस्याका निराकरण होनेकी कोई सम्भवना नहीं है। क्या इन कार्यवाहियोंकी शिकार जनताके अपने हितोंकी रक्षा करनेके लिये विवश नहीं किया जा सकता? कंट्रोलोंके असफल होनेका कारण यही है कि जनता इस बात पर विश्वास नहीं करती कि कंट्रोल उनके हितार्थ लागू किये गये हैं। यदि एकत्रित धन प्रकट नहीं होता तो गाँवोंमें जाकर किसानों पर इस बातके लिये जोर डालिये कि यदि वे दूरस्थ सरकार द्वारा जारी किये गये ऋणमें अनुदान नहीं देना चाहते, तो उन्हें अपनी बचत नलकूपों आदिमें लगानी चाहिये। यह कुछ समझमें आनेवाली बात है। जहाँ उत्साही संगठक इस बातको समझ लेता है, वहाँ इसका परिणाम भी निकलता है। कामगारोंके लिये कांटीनोंका निर्माण करना है, पर यह क्या जरूरी है कि उनका रूप वही हो जो पश्चिममें दीखता है? अपनी कल्याण हेतु आवश्यकताओंको नियंत्रित करनेके स्वयं कामगारोंके कुछ विचार हो सकते हैं। विशेषरूपसे उस समय जब कि मेज़, कुर्सी, गुलदस्तों आदिसे परिपूर्ण कांटीनका वातावरण उनके घर नामधारी दुर्भाग्यपूर्ण बिलसे पूर्णरूपेण भिन्न है, जहाँ उन्हें सोनेके लिये भी पर्याप्त स्थान नहीं होता? मद्यनिषिद्ध क्षेत्रोंमें किसान शराब बनाना क्यों चालू रखते हैं? अच्छा हो यदि इस विधिके निर्माण धानके खेतोंमें घुटनों पानीके अंदर खड़े-खड़े एक दिन बितानेके पश्चात यह प्रश्न अपने आपसे पूछें। 'मद्य-निषिद्ध' नगरोंमें नष्ट किये जानेवाले करोड़ों रुपये यदि तैरनेके तालाबों या मनोरंजनके अन्य साधनोंमें लगाये गये होते तो ऐसे विधान बनानेकी आवश्यकता न पड़ती, जिन्हें पालन करनेकी अपेक्षा तोड़नेकी ओर अधिक ध्यान दिया जात है।

छोटी बातोंसे ही बड़ी बातोंकी ओर बढ़ा जाता है, लेकिन आरम्भ सदैव छोटी बातोंसे ही होता है। यह निरर्थक सिद्धांत प्रतीत होता है, किंतु योजनाके प्रति

जागरूक नेताओंको इसे स्वीकार करना पड़ेगा। अब तक जनतासे सदैव कुछ बातें पूरी करनेके लिये कहा जाता था। जैसे कम बच्चे पैदा करना, एक समयका भोजन छोड़ना, श्रमदानमें भाग लेना या किसी नेताको देखकर उसका उत्साह बढ़ाना। अब वह समय करीब आ चुका है, जब कि ऐसी योजनाके सम्बंधमें उनकी राय माँगी जाय, जो उनके बच्चोंके और नाती-पोतोंके जीवनको प्रभावित करनेवाली हैं।

द्वितीय योजनाकालके अंत तक संपूर्ण ग्रामीण भारतमें व्याप्त होनेवाली सामूहिक विकास परियोजनाओं द्वारा इस दिशामें जो कुछ सफलता प्राप्त हो पाई है, वह इस परीक्षणको हाथमें लेनेवाले उन अनेक अधिकारियोंकी प्रकृतिके कारण नष्ट होनेके संकटमें है, जो स्थिर विचार और सर्व रोगाघ्न औषधिमें विश्वास करनेवाले नये ढंगके दफ़्तरशाह बनना चाहते हैं और जो दर्शकोंको ऊपरी सिद्धियोंका प्रदर्शन करनेको अधिक लालायित रहते हैं, बनिस्बत इसके कि आसानीसे न दीखनेवाले मौलिक परिवर्तनोंकी ओर ध्यान देते। जिस प्रक्रियाका आरम्भ नीचेसे हुआ उसके ऊपरसे आज्ञा देनेवाली बननेका भय है। किंतु स्वतंत्रता और अवसर मिलने पर सामूहिक विकास परियोजना निहित हितों द्वारा प्रेरणात्मक शक्ति और प्रजा तांत्रिक योजना निर्माणकी उत्तोलक बनाई जा सकती है।

देशके प्रत्येक विचारधारावाले लोगों द्वारा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकी प्रशंसा की गई है। निहित स्वार्थों द्वारा की जानेवाली आलोचना पर्याप्त है, किन्तु उन्होंने अनेक प्रगतिशील तत्वोंकी उपेक्षा की है। लेकिन देश जो आर्थिक मार्ग अपना रहा है, उसके सम्बंधमें १९४७ के बाद प्रथम बार यथेष्ट सहमति दीखती है। दूसरे शब्दोंमें कार्यके लिए ऐसा आधार विद्यमान है जिससे अनेक गम्भीर न्यूनतायें चाहे दूर न हो सकें, किन्तु वास्तविक प्रगतिकी सम्भावनाओंका मार्ग अवश्य खुल जाता है।

खामियाँ अनेक हैं। निजी क्षेत्रोंको अनावश्यक रियायत दे दी गयी है। विदेशी हितों पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। राजस्वके जरियों जैसे संगठित निजी उद्योगके लाभ पर हाथ भी नहीं लगाया गया है। तीव्र औद्योगीकरण पर रोक लगानेका प्रयत्न किया गया है। निरंतर प्रगतिकी एकमात्र गारंटी अर्थात् यंत्रनिर्माण-उद्योग स्थापित करके तीव्र औद्योगीकरणकी नींव डालनेकी आवश्यकताको भी संभवतः

अच्छी तरह नहीं समझा गया है। कृषिमें पुनर्जागरण लानेके लिये अत्यंत आवश्यक प्रश्न अर्थात् जोतनेवालेको जमीन देनेका प्रश्न अब भी हल नहीं हुआ है। बेकारीको दूर करनेका मुश्किलसे ही प्रयत्न हुआ है, और जीवनस्तरमें कोई विशेष सुधारकी आशा नहीं दीखती, जैसी कुछ लोग पहले आशा कर रहे थे।

लेकिन योजनामें परिवर्तन होगा। सूचना है कि कुल उद्व्ययको बढ़ाकर ५,३०० करोड़ कर दिया गया है। यह अंतिम अंक नहीं है, क्योंकि योजनाको कार्यान्वित करनेके साथ-साथ सरकारको औद्योगिक प्रगतिके लिये भारी विनियोजन करना पड़ेगा। देशके शासकोंके लिये और कोई मार्ग नहीं है। क्योंकि उन्हें जनताके समर्थनका आश्रित होना ही पड़ता है। भारतको वतला दिया गया है कि यह योजना, प्रचुरताकी योजना है। जब प्रचुरताकी सम्भावना धूमिल पड़ने लगेगी, जैसा होना भी चाहिये, तब काँग्रेसपार्टीके ऊपर बड़ा भारी दवाव पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप योजनाका विस्तार होगा।

जनचीनकी आर्थिक सफलतायें भारतको जैसे जैसे प्रभावित करेंगी, वैसे ही वैसे यह दवाव बढ़ता जायगा। उनकी प्रगति चित्ताकर्षक है और शीघ्रही आश्चर्यजनक हो जायगी। अब यह पता चला है कि चीन १९६२ के अंत तक १२० लाख टन इस्पातके उत्पादनकी आशा करता है। १९६७ में चीनके इस्पात उत्पादनकी २०० लाख टन तक बढ़ जानेकी सम्भावना है; अर्थात १९५४ में ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी तथा द्वितीय महायुद्धके दरम्यान रूसका जितना उत्पादन था, उससे अधिक।

दिल्लीको भी अग्रसर होनेके लिये विदेशी पूँजी और भारतके बड़े एकाधिकारी तत्त्वोंके अधीन रहनेवाले लाभ-साधनों पर आक्रमण करना पड़ेगा। भारतीय कंपनी अधिनियमके अंतर्गत सरकारने यथेष्ट शक्तिसे अपने आपको पूर्वसुसज्जित कर रखा है। बेंक, जूट, चाय वगान, उत्खनन हित, तेल, सीमेंट और वस्त्रोंको सम्भवतया, राज्यनियंत्रणका सामना करना पड़े। अभी निजी क्षेत्रमें बने रहनेवाले लोहा और इस्पात हितोंको निरंतर अग्रसर होनेवाले राज्यक्षेत्रके सामने आत्मसमर्पण करना पड़ेगा। यही दशा आयात-निर्यात व्यापारकी होगी।

विदेशी हितोंमें तो अभी मुश्किलसे हाथ लगाया है। अब तक जो कुछ हो सका है, वह केवल यह कि इन फर्मों पर 'भारतीय करण' करनेके लिये दवाव डाला गया

है, किन्तु यह प्रक्रिया भी वहुत धीमी है, जसा कि निम्नलिखित आंकड़ोंसे मालूम पड़ता है :–

	विदेश-नियंत्रित फर्मोंमें नौकरी अधिक वेतन पानेवाला वर्ग			
	रु. ५००–९९९		रु. १००० और अधिक	
	भारतीय	अभारतीय	भारतीय	अभारतीय
१९४७	२२२५	१६१६	५०४	५८४४
१९५०	४२३८	१२९९	१४०६	६८७१
१९५२	५६६७	१०३३	२२९०	७१०४
१९५४	७४९६	६५०	३३४६	७००८
१९५५	८१९९	५४८	३९९५	६८१०

ये आंकड़े भुलावेमें डालनेवाले हैं, क्योंकि वेतन पर्याप्त आधार नहीं है। किसी भारतीय कार्यचारीको १००० रुपये या उससे भी अधिक मिल सकते हैं, लेकिन अन्य भत्तोंको भी जोड़नेके उपरांत सम्भव है उसका स्तर, अधिकार क्षेत्र और कुल आय अवरतम विदेशी कर्मचारीके भी बराबर न हो। और कुछ पदक्रमोंमें तो अभारतीयोंके पास शीर्षस्थ स्थानोंके २/३ से भी अधिक हैं; जैसे बगानमें (८९.६ प्रतिशत), जूटमें (८६.६ प्रतिशत), बेंकिंगमें (७८.१ प्रतिशत), व्यापारमें (६८.४ प्रतिशत), सामानकी ढुलाई और यातायातमें (६६.९ प्रतिशत)। इस परिस्थितिको आगे पीछे समाप्त करना ही पड़ेगा।

अन्य दवाव, भूमि समस्याके निराकरणकी आवश्यकताको रेखांकित करते रहेंगे, जिसे सिर्फ चकबंदी द्वारा या कर घटाकर हल नहीं किया जा सकता। यह समस्या तो भूमि सम्बधोंमें मौलिक परिवर्तन चाहती है; विशेष तौर पर ऐसे समय जब कि राज्यनिर्देशित औद्योगिक प्रसार हो रहा हो। और भूमिहीन कृषि मजदूरों तथा निर्धन और मध्यम वित्तीय कृषकोंके पास मताधिकार रहते उनकी उपेक्षा कौन कर सकता है? सरकारी तौर पर यह स्वीकार किया गया है कि सम्पूर्ण कृषि-योग्य क्षेत्रके १५-५ प्रतिशत भाग पर ६० प्रतिशत किसानोंका अधिकार है। जब

कि ५ प्रतिशतके पास ३४ प्रतिशत जमीन है (स्वयं उनके नामसे। यदि उनके सम्बंधियोंके नामकी बैनामी जमीनको भी सम्मिलित किया जाय तो यह अनुपात बहुत अधिक हो जायगा।)

१९५७ के अंत तक ५०० करोड़ एकड़ भूमि एकत्र करनेका लक्ष्य रखनेवाले भूदान आंदोलनके नेता आचार्य विनोबा भावे, इस बात पर बल देते हुए बार बार कहते हैं कि, "भूमि तो केवल प्रतीक है। भूमिसे लोगोंकी विभुक्षा शांत हो जाती है। इसके कारण आत्मविश्वास प्राप्त हो जाता है। इससे नया विश्वास प्राप्त होता है। यह इस विचारको बल प्रदान करती है कि जल और वायुके समान भूमिपर भी सबका अधिकार है और इसका सभीमें वितरण होना चाहिये।" भूदान इस समस्याका उत्तर भले ही न हो, किन्तु इसका प्रतिपादन निश्चितरूपसे इस बातका सूचक है कि भूमिक्षुधाकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न इस कार्यको स्थगित किया जा सकता है।

केवल योजनाके सामने पड़नेवाले अशक्त स्थलोंको शक्तिपूर्ण बनानेके लिये ही नहीं वरन देशके क्रमिक विकासको सुनिश्चित करनेके लिये भी राज्य द्वारा धीरे-धीरे अपने क्रियाक्षेत्रका विस्तार करना भी निर्णीत बात है। आज एक भाषायी क्षेत्र आर्थिक लाभोंके लिये दूसरेके साथ प्रतियोगता कर रहा है।

कल कच्चे माल विशेष रूपसे ईंधनकी सुलभताके आधार पर दक्षिण, उत्तर द्वारा उन्नतिके बड़े भाग हथियानेके विरुद्ध झगड़ा उठेगा। और जब बहु-उद्देशीय परियोजनाओंसे उत्पादित होनेवाली संपूर्ण बिजली प्राप्त होने लगेगी, तब सार्वजनिक क्षेत्र ही उसे प्रमुख रूपसे खपा लेनेकी परिस्थितिमें हो जायगा।

समझौतोंके बावजूद भी यही मुख्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। वे भारतीय प्रगतिका रूप निर्धारित करेंगी। इन परिवर्तनोंकी गति अनेक बातोंपर विशेष तौरसे आंतरराष्ट्रीय परिस्थिति पर आश्रित है। अब घनीभूत होनेवाले शांतिपूर्ण सम्बंधोंके प्रसारसे भारतको सहायता मिलेगी आर उसे समाजवादी दुनियाँसे ऐसी सहायता सुलभ हो जायगी, जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की थी।

प्रचुरताकी योजना

अनेक योजनाओंके अंदर होनेवाली आर्थिक प्रगतिके चरणोंका योजना आयोगने मोटे तोरपर उल्लेख किया है। महालनोबिसने ठीक ही कहा है कि योजना बनाते १०, २०, ३० या इससे अधिक वर्षों तक राष्ट्रीय आर्थिक प्रगतिका स्पष्ट स्वरूप अपने सामने रखना चाहिये। निम्नलिखित तालिकामें प्रायोजित कार्यक्रम बतलाया गया है:–

आय एवं विनियोजनमें वृद्धि, १९५१-७६

(१९५२–५३ के मूल्योंके आधार पर)

	प्र. योजना (५१-५६)	द्वि. योजना (५६-६१)	त्रि. योजना (६१-६६)	च. योजना (६६-७१)	पं. योजना (७१-७६)
१. अवधिके अंतमें राष्ट्रीय आय (रु. करोड़ोंमें)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
२. वास्तविक विनियोजनका योग (रु. करोड़ोंमें)	३,१००	६,२००	९,९००	१४,८००	२०,७००
३. अवधिके अंतमें राष्ट्रीय आयका विनियोजनमें प्रतिशत	७·३	१०·७	१३·७	१६·०	१७·०
४. अवधिके अंतमें जनसंख्या (लाखोंमें)	३,८४०	४०,८०	४३,४०	४६,५०	५०,००
५. विकासोन्मुख पूंजी, निर्माणका समानुपात	१·८८:१	२·३:१	२·६२:१	३·३६:१	३·७०:१
६. अवधिके अंतमें प्रति व्यक्ति आय (रुपयोंमें)	२८१	३३१	३९६	४६६	५४५

संगठित प्रगतिकी यह सम्भावनायें हैं जो स्थानीय और विदेशी दोनों प्रकारके बड़े व्यवसाइयोंको भयभीत कर देती हैं। इसी कारण द्वितीय योजना पर उग्र विवाद होता है। यदि वायदा नहीं तो कमसे कम प्रचुरताके कीटाणु तो इसमें विद्यमान हैं ही।

यही कीटाणु थे, जिन्होंने प्रधानमंत्री नेहरूको यह कहनेकी प्रेरणा दी, कि "कोई फौज किसी देश या स्थानके कोने-कोनेमें सैनिकोंको नियुक्त करके उस पर अधिकार नहीं करती। वह तो उसके समस्त युद्धोपयोगी स्थलों पर नियंत्रण प्राप्त करके अधिकार प्राप्त कर लेती है। इन युद्धोपयोगी स्थलोंसे ही फौज उस समस्त भूभाग पर नियंत्रण करती है। किसी पहाड़ी पर स्थापित की जानेवाली तोप फौजको समीपवर्ती क्षेत्र पर सफलतापूर्वक नियंत्रण करनेमें समर्थ बनाती है। ठीक इसी तरह हमें भी अपनी अर्थव्यवस्थाके सभी महत्त्वपूर्ण स्थलोंको संभालना है, जिससे एक सर्वग्राही राष्ट्रीय योजनाके अंतर्गत निजी और सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रोंमें कार्य सुचारु रूपसे संपादित हो सके।

यह ठीक कहा गया है। जिन लोगोंने योजनाकी ओरसे इस डरके कारणसे आँखें मूँद ली हैं कि वह उनके उलटे-सीधे कट्टर सिद्धांतोंको अव्यवस्थित कर देगी, उन्हें इसकी सत्यता अधिकाधिक स्पष्ट होती जायगी। भारत किसी अजनबी मार्ग पर कदम नहीं बढ़ा रहा है, किंतु वह शायद मानव जातिके इतिहासमें सबसे बड़े नाटकीय युगकी शक्तियों द्वारा अभिभूत हो रहा है।

पूँजीवादका युग समाप्त हो रहा है। यद्यपि ऐसा करनेमें वह अनिच्छा दिखला रहा है। समाजवाद, संपूर्ण संसारका स्वीकृत भविष्य निर्धारित हो चुका है। भारत इन्हीं शक्तियोंसे प्रभावित हो रहा है। कभी वह आश्चर्यजनक स्पष्टताके साथ आगे बढ़ने लगता है। दूसरे अवसरोंपर विभ्रम और अस्तव्यस्तता दीखती है। किन्तु कैसे अग्रसर होना चाहिये इस प्रश्नका मत वैपरित्य लालच और अमानुषिकतासे उन्मुक्त समाजके निर्माणकी जनेच्छाको परिव्याप्त नहीं कर सकता।

टिप्पणी :—भारतीय योजनाविषयक अधिकतर सामग्री "इकोनोमिक विकली ऑफ बॉम्बे" से उद्धृत की गई है।

सौहाद्रताका प्रसार

किसी राष्ट्र या जातिके लिये यह सोचना कि वह केवल कुछ दे ही सकती है और उसे शेष संसारसे कुछ लेनेकी आवश्यकता नहीं है, अविवेकपूर्ण है। यदि एक बार किसी राष्ट्र या जातिने यह सोचना प्रारम्भ कर दिया, तो वह स्थिर होकर पिछड़ने लगता है तथा अंतमें नष्ट हो जाता है।

—जवाहरलाल नेहरू

भारतके द्वितीय योजनाका कार्यारंभ करते समय स्वदेश और विदेश दोनोंका राजनैतिक वातावरण कितने आश्चर्यजनक रूपसे बदला हुआ है। तनाव और संकटको प्रतिध्वनित करनेवाले पाँच वर्ष जो प्रथम योजना-कालमें राष्ट्रीय प्रगतिमें भयंकर बाधा थे, अब शीघ्रतापूर्वक भूतकालीन बात बनते जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे कहीं हो, अधिक सुविधापूर्वक साँस ले रहा है। हम यह देख चुके हैं कि यह प्रवृत्तियाँ कैसे विकसित हुईं, किंतु वर्तमान समयमें हम उनकी परिपूर्णताके दर्शन करते हैं। कुछ स्थलों पर झिझक दिखलाई पड़ती है जब कि अन्य स्थलों पर साहसपूर्ण हलचल। परंतु निश्चितरूपसे व्यक्ति और राष्ट्र निरंतर एक दूसरेके समीप आ रहे हैं।

इस परिवर्तनको स्पष्ट शब्दोंमें समझानेके लिये हमें सिर्फ प्रतिदिन होनेवाली घटनाओंका ही सर्वेक्षण करना पड़ेगा। साम्राज्यवादी शक्तियोंने यह देख लिया है कि वे अब आधे विश्वको अपनी कार्यप्रणाली स्वीकार करनेके लिये बेवकूफ नहीं बना सकते। नन्हें कम्बोडियाको भी उनसे यह कहनेका साहस हो गया कि अपने हाथ उसकी गर्दनपरसे हटा लें। दूरस्थ आइसलेंड भी वामपक्षी सरकार चुनकर यह प्रतिज्ञा करने लगा कि उसके देशसे सभी विदेशी विमान-स्थल हटा लिये जायँ। सऊदी अरब भी अंतमें यह समझने लगा कि मरुभूमिमें स्थित तेल, असीमित सुवर्णका प्रदायक है और उसे इसका उपयोग अपने वीरान देशकी

उन्नतिके लिये करना चाहिये, वही सुवर्ण जो अब तक संयुक्त राज्यीय डालरोंमें चमक पैदा करता रहा था। मिश्र भी साहसके साथ सार्वभौमताके साथ समझौता करनेवाली सहायताको ठुकराता है और इसके स्थानपर प्रतीकारात्मक कार्यवाही करता है। उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण पूर्वी एशियामें स्थित साम्राज्य लड़खड़ा रहे हैं। लाखों व्यक्ति राष्ट्रीयता, गौरव और स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हैं।

ज्योंही शीतयुद्धका अंत होता है, त्योंही आणविक कूटनीति और उसके तरीकोंके प्रति अमेरिकावासियोंमें भी घृणा व्यक्त होने लगती है। समाजवादी दुनियाँ अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनोंके दर्शन करती है। साम्यवादी पार्टियाँ अपनी सिद्धि और अपनी भूलोंका पुनरावलोकन प्रारम्भ कर देती हैं। मानवीय इतिहासमें सम्भवतया सर्वाधिक विवादास्पद स्टालिन युगका एक अपरिचित स्पष्टताके साथ पुनरावलोकन होने लगता है। साम्यवादी समाजको उन बुराइयोंसे उन्मुक्त करनेका दृढ़तापूर्ण अभियान प्रारम्भ हो जाता है, जिन्होंने अनेक कार्यक्षेत्रोंमें अब तक स्वतंत्र और निर्बाध विचारोंकी गति रुद्ध कर रखी थी।

'क्रेमलिनके व्यक्तियों' को आवृत्त करनेवाला किसी समयका रहस्य भी हट जाता है। वे अब संसारवासियोंसे मिलने निकल पड़ते हैं। चीनमें, चू-एन-ली च्यांग काई शेकको अब ऐसा युद्ध अपराधी नहीं बतलाते, जिसपर मुकदमा चलना आवश्यक है। इसके विपरीत वे अपने ज्ञात शत्रुको प्रत्यक्ष वार्ताके लिये आमंत्रित करते हैं। यह उत्तेजनापूर्ण समयके चिन्ह हैं क्योंकि भय समाप्त हो रहा है, विश्वास पुनर्जीवित हो उठा है।

वस्तुतः सब कुछ ठीक नहीं है। पूर्वकालीन वसीयत मौजूद है, जो अपनी ओर ध्यान आकर्षित कर रही है। अश्याक्रमी उत्तर अतलांतिक संधि संगठनके बंधनोंसे उन्मुक्त होनेका प्रयत्न करते समय भी फ्रांसीसी अलजीरियावासियोंके विरुद्ध एक बर्बरतापूर्ण युद्ध करनेमें जुटे हुए हैं। ब्रिटिश लोग यही कार्य कीनियां, साइप्रस और मलायामें कर रहे हैं। मौका मिलनेपर अमेरिका भी बड़ा लट्ठ फटकारने लगता है। कभी नेहरूको घृणा करने लगता है और कभी अपने पिट्ठुओंके गुणगान करने लगता है। और आणविक एवं उद्‌जन अस्त्रोंका अविवेकपूर्ण परीक्षण

जारी है। परिणामस्वरूप रेडियो सक्रियतासे वायुमंडलको दूषित करके, इस भूमंडलपर जीवजगतके भविष्यके लिये संत्रस्त कर दिया गया है।

किंतु संसारमें होनेवाले परिवर्तनको रोका नहीं जा सकता। वे घनत्व और क्षेत्रमें बढ़ते ही जायँगे। इस बातको समझनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि सोवियत संघीय साम्यवादी पार्टीकी २० वीं कॉंग्रेसमें क्या हुआ। यह बात भारतीय परिस्थितसे यथेष्ट दूर भले ही मालूम पड़े, किंतु वास्तविकता इसके विपरीत है। यह ऐसी घटना थी जो अगली अनेक दशाब्दियों तक भविष्यकी घटनाओंका रूप निर्धारित करती रहेगी।

मिकोयांमें होनेवाले बीसवीं कॉंग्रेसके खुले अधिवेशनमें जोज़फ स्टालिनकी निन्दा और तदुपरांत एक गुप्त अधिवेशनमें ख्रुश्चेव द्वारा उसके अपराधोंको अनुसूचित करने पर, संसारभरके न सिर्फ साम्यवादी आंदोलनोंको ही वरन् इस आंदोलनकी लक्ष्मण रेखाके बाहर स्टालिनके अधीन सोवियत संघकी आश्चर्यजनक आर्थिक एवं सैनिक सफलताओंको देखकर उसकी प्रशंसा करनेवाले लाखों आदमियोंको भी एक भारी धक्का-सा लगा।

जबसे लेवरेंटी बेरियाको बंदी बनाया गया था, तभीसे यह स्पष्ट हो गया था कि कुछ न कुछ न्यूनता आवश्य है। उस पर आरोपित अपराधसूचीमें अप्रत्यक्ष रूपसे स्टालिन भी आ जाते थे, क्योंकि उसकी मौनस्वीकृति बिना इतनी ज्यादतियाँ नहीं हो सकती थी। व्यक्तित्ववादकी जब आलोचना होने लगी तब यह धारणा विकसित हुई और आगे चलकर इसकी परिणति यूगोस्लावियाके टीटोके विपक्षी समस्त प्रकरणकी निन्दामें हुई।

साम्यवादी सिद्धान्तशास्त्रियोंने सोवियत नेताओं द्वारा अपनी भूल सुधारके साहसी ढंगका स्वागत किया, क्योंकि शीत युद्धके तनावपूर्ण वातावरणमें ऐसी भूलोंका होना आसान था। किन्तु किसीको यह भान नहीं था कि आगे क्या होनेवाला है। फिर भी यह ज्ञात हो चुका है कि १९५५ में सोवियत संघका दौरा करते समय प्रधान मंत्री नेहरूको यह बात स्पष्ट रूपसे बतला दी गई थी कि स्टालिन-विषयक कल्पनाकी अस्वीकृतिके लिये कदम आयोजित हो रहे हैं और उनके नामसे प्रसिद्ध होनेवाले संदेहपूर्ण ढंगोंको समाप्त किया जायगा।

उपलब्ध अभिलेखोंके अध्ययनसे यह पता चलता है कि सोवियत संघके नेताओंने क्रमिक पुनर्निधारण और पुनःशिक्षाका निश्चय किया था। वे स्टालिन-विषयक कल्पनापर सम्मुख और तात्कालिक आक्रमण नहीं करना चाहते थे, क्योंकि ऐसा करने पर स्टालिनके नामके साथ निकट सम्बंधित सोवियत संघके निर्माणकालमें पालन की जानेवाली नीतिको उपयुक्तताके विषयमें संदेह व्यक्त किये जानेकी सम्भावना थी।

१९५४ और १९५५ में विशेष रूपसे आर्थिक विकासके क्षेत्रमें प्रचारित किये जानेवाले नये सिद्धान्तोंको असत्य प्रमाणित करनेके लिये स्टालिनके लेख उद्धृत किये जाते थे। कुछके प्रति तर्क स्वरूप स्टालिनके आदेशोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया जाता था। दिसम्बर १९५५ तकमें स्टालिनके जन्मोत्सवके अवसरपर नियंत्रित शब्दोंमें उनकी सेवाओंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की गई थी। कुछ महीनों पश्चात् होनेवाली बीसवीं काँग्रेसमें इस कटुसत्यकी अभिव्यक्तिकी आकस्मिकताका अर्थ यही है कि साम्यवादी पार्टीके आंतरिक संघर्षमें प्रकारात्मक परिवर्तन हो गया था और पूर्ण सत्यकी माँगने यथेष्ट बल प्राप्त कर लिया था। किन्हीं सिद्धान्तोंकी सीमाके अंतर्गत काम करनेवाली पार्टीमें, यदि वे सिद्धान्त साथ ही साथ किसी ऐसे व्यक्तिके नामसे सम्बंधित हों, जिसकी कटु आलोचना हो रही है, ऐसा परिवर्तन स्वाभाविक ही है।

तथ्योंकी माँग की जाती है और स्टालिनके सिद्धांत और व्यवहारको शुद्ध करनेके प्रयत्नमें इनका विभिन्न प्रकारसे अर्थ लगाया जाता है। कुछ लोगोंका कहना है उस डिक्टेटरसे निकट सम्बंधित होनेके कारण मोलोतोव और कगानोविच, आत्म रक्षणके हितार्थ इस आक्रमणको निष्क्रिय करेंगे, मिकोयानका मत इसके पूर्णरूपेण विरुद्ध है, और बुलगानिन तथा ख्रुश्चेव मध्यम स्थितिका प्रतिनिधित्व करते हैं और यही जो स्टालिन सिद्धान्तोंसे प्रभावित कार्यकर्ताओंका विचार है। अन्य व्यक्तियोंका कहना है कि नवीन शक्ति अर्थात् ख्रुश्चेव, अपने सुधारवादी दृष्टिकोणके अनुरूप वस्तुओंको परिवर्तित करनेके लिये, इस आक्रमणको बढ़ा चढ़ाकर दिखला रहे हैं, जिससे समाजवादी राज्य निर्माण और उसे साम्यवादीमें परिवर्तित करने विषयक स्टालिन नीतिमें संदेह उत्पन्न हो जाय।

साथ ही ऐसा दावा करनेवाले लोगोंकी भी कमी नहीं हैं, जो कहते हैं कि इस आक्रमणका लक्ष्य विशुद्धरूपसे स्टालिनके व्यक्तिगत गुणोंकी आलोचना है, कोई वास्तविक सुधार नहीं सोचा जा रहा है क्योंकि चौथी और पाँचवीं दशाब्दियोंमें ऐसी विशेष परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिनके कारण पार्टी लोकतंत्रकी अवहेलना सम्भव हो सकी। ऐसे भी तत्व विद्यमान हैं जो किसी परिवर्तनके अस्तित्वको स्वीकार ही नहीं करते। वे यह सिद्धान्त प्रेषित करते हैं कि लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये सोवियत नेताओंने संसारके सामने एक नया रूप उपस्थित करनेका निश्चय किया है। जिसके लिये दोष सहज रूपमें स्टालिनके मत्थे मढ़ा जा रहा है। इसमें वहुत वड़ा संभ्रम है, क्योंकि अभी पूर्णकथाका भेद खुलना बाकी है। विदेशोंमें स्थित साम्यवादी नेताओंकी प्रतिक्रियामें यह संभ्रम स्पष्ट रूपमें दिखलाई पड़ता है। बीसवीं कॉंग्रेसके समय सार्वजनिक रूपसे होनेवाली स्टालिन विषयक परिशुद्धियोंको उन्होंने स्वीकार कर लिया, किन्तु जब ख़ुश्चेवका गोपनीय प्रतिवेदन उन्हें मिला तो उनकी प्रतिक्रिया क्रोध और कटुतापूर्ण थी। उन्होंने यह दावा किया कि यह वक्तव्य स्टालिनवादकी मार्क्सवादी व्याख्या नहीं है, उनका कहना था कि सोवियत साम्यवादियोंको इस परिवर्तनकी प्रष्ठभूमिमें स्थित कारणोंका स्पष्टीकरण करना चाहिये और प्रत्येक मतवैपरीत्यको केवल श्वेत और श्याममें देखनेकी सुपरिचित और नैराश्यपूर्ण प्रवृत्तिको समाप्त कर देना चाहिये।

इटलीके तोग्लिअहीने पार्टी संगठन, सम्मिलित अपराध, एक सिद्धान्तके परिणामस्वरूप दूसरेमें पहुँचना तथा सोवियत पार्टीको होनेवाली अपूर्व हानि-विषयक मौलिक प्रश्न खड़े किये। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिकामें स्थित पार्टियोंकी विचारधाराकी भी यही दिशा थी। यदि इस विषयमें भारतीय पार्टी ढिलमिल थी और नेहरूपर यंत्रवत् संप्रदायवादका दोषारोषण किया था, तो उसका कारण यही था कि उसका सैद्धांतिक स्तर सदैवसे नीचा रहा था तथा पश्चिमी देशोंके साम्यवादी-योंकी तरह उसे विकसित पूँजीजीवियोंके भारी बौद्धिक आक्रमणका कभी सामना नहीं करना पड़ा था।

अंततोगत्वा यह कहा जा सकता है कि यदि भारतीय नेतृत्वमें नहीं तो कमसे कम संसार भरमें विशेषरूपसे चीन एवं अन्य समाजवादी राज्योंमें जहाँ अनेक अंशोंमें

स्टालिनयुगकी भूलोंका आवर्तन हुआ था, साम्यवादी नीतिका पुनरावलोकन हो रहा है। विभिन्न दृष्टिकोण व्यक्त किये जा रहे हैं, क्योंकि विरोधी समस्यायें एकमात्र 'संप्रदायवादसे' आगे निकल जाती हैं। अंतर्राष्ट्रीय वादविषयक विचार, साम्यवादी पार्टियोंके पारस्परिक सम्बन्धका रूप, जनगणतंत्र राज्योंमें विभिन्न वर्गोंकी स्थिति तथा मार्क्सवादसे अन्य सम्बंधित सिद्धान्तोंको लेकर भीषण तर्कवितर्क हो रहा है। इसका उत्तर आसानीसे नहीं मिल सकता। टीटोवादी यूगेस्लेविया भी इसका आदर्श प्रतिमान नहीं बन सकता। सम्भवतया भूतकालीन नीतियोंको सुधारनेमें अनेक अशुद्धियाँ हो जायँगी, लेकिन इन कष्टोंके उपरांत प्रकट होनेवाला समाजवाद अधिक स्वस्थ और शक्तिशाली होगा।

साम्यवादी पार्टी और उसके नेताओंका उपहास करना, जिनके मनोरंजनका साधन है ऐसे 'मैंने तुमसे यही कहा था' दलके लोगोंका कुप्रयत्न भी करुणाजन्य है। वे संसारके कुछ सुंदरतम मस्तिष्कोंको स्टालिनके भुलावेका शिकार हो जानेके कारण उनकी निन्दा करनेसे नहीं चूकते। उनका कहना है कि सोवियत कूटनीतिके इशारों पर चलनेवाले ऐसे लोग स्वयं गड्ढेमें उतर चुके हैं और कभी अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित नहीं कर सकेंगे।

यदि पहलेसे अधिक बड़े अंशके लिये यह दोषारोपण स्वीकार्य भी हो, तो भी सत्य इसके पूर्ण भिन्न ही है। कोई भी साम्यवादी सोवियत संघकी प्रशंसा और आदर तथा गणना इस कारण नहीं करता कि वह किसी तरहका कपटी पंचम दलीय है, वरन इसलिये कि उसका विश्वास है कि स्वयं कम्युनिस्ट पार्टीका संगठन एवं उसकी परंपरा प्रजातंत्र और स्वतंत्रताके दुरुपयोग के विरुद्ध एक मात्र बीमा है। अत्यंत निष्ठावान नागरिकों द्वारा निर्मित जनताकी पार्टीमें स्पष्ट विचारविमर्श और निष्पक्ष चुनावोंको सम्भवतया अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। दुरुपयोग अवश्य होगा, परन्तु अस्थायी और उसी सीमा तक जिस सीमा तक कि पार्टीसदस्य उदासीन रहेंगे।

इसके अतिरिक्त पार्टी संगठन, अनुशासन एवं गोपनीयताके यह सिद्धान्त संघर्ष, क्रांति और निर्माणात्मक प्रयत्नोंकी परीक्षामें खरे उतर चुके हैं। यदि मुकदमे और शोधन (पर्ज) प्रक्रियामें चालू हुई तो उनके प्रति शोक प्रदर्शित किया गया,

किंतु वह आवश्यक थे। इस प्रकार सार्वजनिक उन्नतिके हितमें व्यक्तिगत अवरोधोंको दूर किया गया। और प्रगति नाटकीय, प्रेरणात्मक एवं प्रामाणिक आवश्यक रूपसे वहाँ हुई थी।

इस नीतिके कुछ रूपोंको बहुतसे लोग अच्छी तरह नहीं समझ सके; जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारियोंका शारीरिक निस्तारण, सुपरिचित व्यक्तित्वोंका आकस्मिक अलोपन, भिन्न मत प्रदर्शित करनेका साहस करनेवालोंके प्रति अधिक संदेह और अविश्वास, कठोर आदर्श अपनानेके लिये कलात्मक प्रयत्नोंका गला घोंटना, इतिहासके पुनर्लेखनकी प्रवृत्ति, और उसे उतरनेका प्रयत्न आदि विश्वसाम्राज्यवादके बर्बरतापूर्ण आक्रमणोंसे समाजवादके गढ़को सुरक्षित करनेके लिये इन सभी बातों पर तथा इसके अतिरिक्त अनेक बातोंपर विचार किया गया।

यद्यपि सोवियत संघकी इन प्रक्रियाओंने अनेक बहुमूल्य साथियोंको खो दिया, परंतु साम्यवादी आंदोलन फैलता गया और हर जगह लाखों आदमी इसे स्वीकार करते गये। समाजवादी दुनियामें साम्यवादके साहस और ईमानदारीपर विश्वास प्रकट किया जाने लगा। लोगोंकी यह दृढ़ धारणा थी कि पूँजीजीवी समाचारपत्रोंमें जिन अपराधोंका उन्हें उत्तरदायी ठहराया गया था, उसमें उन्होंने भाग नहीं लिया होगा।

किन्तु उनका यह विश्वास गलत था। विवेकको त्याग दिया गया था। वास्तविकता यह थी कि सोवियत पार्टीसंगठन एक व्यक्तिके इशारेपर गलत या सही उसीके उद्देश्योंकी पूर्तिमें बराबर लगा हुआ था। अत्याचारोंने किसी समय निडर समझे जानेवाले व्यक्तियोंको भी शांत कर दिया था। प्रमुख प्रश्न यह है कि यह सब कैसे सम्भव हुआ।

पार्टीसंगठनके नियम लेनिनने बनाये थे। उनका यह विश्वास था कि सबसे अधिक अनुशासित और निष्ठावान राजनैतिक संतरी अर्थके रूपमें साम्यवादी पार्टीको संगठित किये बिना मजदूर राज्यकी स्थापना असम्भव है। उन्होंने 'प्रजातांत्रिक केन्द्रीयवाद' का सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार सभी प्रवृत्तियोंपर पार्टीके अंदर ही तर्कवितर्क करके वैज्ञानिक एवं बुद्धिसम्मत नीति निर्धारित करनेकी आज्ञा थी,

किन्तु सभीसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे बहुमत द्वारा निर्धारित निर्णयोंका इमानदारीसे पालन करें। पार्टीके विषय गोपनीय समझे जाते थे। भयंकर संघर्षके दरम्यान किसी राज्यको जीत कर वहाँ पर संसारके मजदूरोंको प्रेरणा देने योग्य समाजवादी ढांचेको परिपुष्ट करते समय ऐसा करना जरूरी भी था। यही कारण है कि वहाँ लौहवत अनुशासन चालू था।

इतना होते हुए भी शताब्दीके मोड़के समय ट्रॉटस्की और प्लेखेनोव सरीखे अनेक नेताओंने लेनिनके पार्टी संगठन-विषयक दृष्टिकोणके विरुद्ध चेतावनी देते हुए यह कहा कि इसका परिणाम एक व्यक्तिका शासन होगा, किन्तु लेनिनके वाक्योंको ही सार्थक समझा गया। पार्टीके अभ्यंतरिक जनतंत्रके वह स्वयं बहुत उत्साही अभिभावक थे और बहुमत द्वारा निर्णीत नीतियोंके अनुरूप आचरण करते समय सदैव विरोधी अल्पमतको अपने साथ ले लिया करते थे। जारशाहीका अंत हुआ। लेनिनकी पार्टीने अपनी सार्थकता प्रमाणित कर दी थी।

क्रांतिके प्रथम वर्षोंने निर्बाध कीर्तिपूर्ण स्वातंत्रोदयके दर्शन किये। यह संत्रस्त नवजात मजदूर राज्य लगभग प्रत्येक क्षेत्रमें मनुष्यकी प्रगतिका अग्रवर्ती परीक्षक बन गया। किन्तु लेनिन यह देखनेके लिये जीवित न रह पाये कि सत्ताहेतु संघर्ष करनेवाली पार्टीके लिये उन्होंने जो नियम और आचरण निर्धारित किये थे, वे राज्यके ऊपर पूर्ण अधिकार स्थापित करनेके उपरांत भी पार्टीके लिये उतने ही उपयोगी हैं या नहीं। वे इसके लिये बहुत चिंतित थे, यह बात ३० वर्ष उपरांत खुश्चेव द्वारा उनके अंतिम मृत्युलेखको प्रकट करनेसे ज्ञात हुई है।

स्टालिनवादका विवेचन करते समय सोवियत साम्यवादी अब यह दावा करते हैं कि यह कार्य १६३४ में ही प्रारंभ हो गया था। फिर भी १० साल से अधिक पूर्व लिखे लेनिनके मृत्युलेख एवं पत्रोंको छिपानेकी घटना ही पार्टीके आंतरिक जनतंत्रके अंतका प्रारम्भ था। यह प्रतिलेख पार्टीके कार्यकर्ताओंको भी नहीं दिखलाये गये थे। आगे चलकर उनके अस्तित्वके दावेकी भी झूठी बात कह कर उपेक्षा कर दी गई। यह तर्क किया जा सकता है कि किसी पार्टीके लिये मृतक नेताके आदेशोंका पालन करना आवश्यक नहीं है, किन्तु उनको छिपानेके प्रयत्नको तो अच्छा नहीं कहा जा सकता।

उस समय क्या हुआ यह बात अब सर्वसाधारणकी जानकारीमें है। व्यक्तिगत रूपसे स्टालिनको दोषी ठहराना, यह दावा करना कि उनकी अप्रतिहत शक्तिकी चाहने ही पार्टीको बदनाम कर दिया था, यह सुझाव देना कि उन्हें जनता द्वारा प्रशंसित नीतियोंके निर्धारक प्रकट करनेमें भूल हो गई थी (ऐसी भूल जिसके कारण वे भविष्यमें अपनी निर्द्वंद्व स्थितिका प्रयोग स्वस्थ विरोधको आतंकित करनेमें कर सके), यह पवित्र आशा व्यक्त करना कि यह बात भविष्यमें नहीं होगी, क्योंकि पार्टीके आंतरिक जनतंत्रकी पुनर्स्थापना हो चुकी है, वस्तुतः मार्क्सविषयक लेलिनवादी विचारोंका हास्यास्पद स्वरूप है।

अब यह स्वीकार किया जाता है कि सिद्धान्त और कार्यका ऐसा प्रक्षेपण केवल सोवियत संघमें ही नहीं वरन राजसत्ता धारण करनेवाली अन्य पार्टियोंमें भी प्रकट हुआ था। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी संसारमें संघर्षरत अनेक साम्यवादी पार्टियोंके नाशका मूलकारण भी यही संप्रदायवाद था और इसमें भारत भी सम्मिलित है। क्योंकि भारतीय साम्यवादी नेता कुछ भी कहें किन्तु वास्तविकता यह है कि भारतीय साम्यवादी पार्टीका इतिहास भी गुटसंघर्ष और वैयक्तिक झगड़ोंसे परिपूर्ण है। इन्होंने पार्टी जनतंत्रका मखौल कर रखा था तथा एक ओर सुंदर साहसी सदस्यताको उदासीन एवं चिड़चिड़ा कर दिया था। परिस्थितिका यही रूप है जिसने पूर्णतया बदनाम नेताओंको शक्तिशाली बने रहनेमें सहायता दी है। ऐसी स्थितिमें यदि वे सोवियत संघके अनुभवसे उपयुक्त शिक्षा ग्रहण करनेका विशेष प्रयत्न नहीं करते तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि जनतंत्र समाजवादकी आत्मा है। अपने कार्यके प्रत्येक क्षेत्रमें साम्यवादी पार्टीको इस आदर्शके विकीर्ण करनेका प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें नीतिके निर्धारण और पालन दोनोंमें सर्वसाधारणको पूर्ण रूपसे भाग लेनेके लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। प्रारम्भमें आलोचना और स्व-आलोचना पर कोई रोक नहीं होनी चाहिये। उन्हें सदैव इस बात पर जोर डालना चाहिये कि पूँजीवादी जनतंत्रके विपरीत यहाँ पर सभी नागरिकोंको इस अधिकारका समान प्रयोग करनेका अवसर है। समाजवाद द्वारा उपदेशित आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता ऐसे आयुध हैं, जिनके द्वारा नवीन जनतंत्रका परिवर्धन एवं प्रसार होता है।

सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशोंमें जो प्रक्षेपण हुआ उसकी जड़ें सिर्फ पूर्वकालीन अवशेषोंमें ही नहीं जमी हैं, वरन कुछ दोषपूर्ण सिद्धान्तोंमें भी निहित हैं, जिनके आधार पर इस नये समाजकी रचना हुई थी। महत्त्वपूर्ण स्थितिमें रहनेवाले लोगोंको अब भी पूर्ववत भारी मान दिया जाता है। अपने नामके साथ सम्बंधित नीतियोंकी सफलता द्वारा उन्हें व्यक्तिपूजाको महत्त्व देनेवाली अधिकतर जनताकी वैयक्तिक स्वामिभक्ति प्राप्त हो जाती है। संतुलित प्रशंसासे कल्पनातीत भक्तिकी अवस्थामें संक्रमण अधिकतर दिखलाई नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त नौकरशाही शासनकी परंपरा, वैयक्तिक पसंद पर निर्भरता और गल्तियों तथा भूलोंको छिपानेकी आवश्यकतासे उन शक्तियोंको गति मिल जाती है, जिनका अंत एक व्यक्तिकी या सामूहिक तानाशाहीमें होता है।

साम्यवादियोंको इन प्रवृत्तियोंसे बचनेके लिये सदैव सतर्क किया गया है, किन्तु इन चेतावनियोंका उपयोग ही क्या है, जब कि पार्टीके संगठनमें तथा समाजवादी सोसाइटीकी स्वतंत्रता विषयक धारणामें निरंकुशवादके बीज विद्यमान हैं।

यह कहना कि संप्रदायवाद और उसके अपराधोंको पूरी तरहसे व्यक्त किया जा चुका है और भविष्यमें इसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी, समस्याकी उपेक्षा करना है। मार्क्सवाद ऐसे योग्य व्यक्तियोंका निर्माण जारी रखेगा जो व्यक्तिगत संपत्तिके संग्रहणकी ओरसे विरक्त होते हुए भी ऐसे विचारोंको लागू करनेका अधिकार चाहेंगे, जिन्हें वे ठीक समझते हों। जनताका समर्थन प्राप्त होनेपर उनके लिये अपने साथ मतभेद रखनेवाले समान योग्य व्यक्तियोंके अपना दृष्टिकोण बदलनेके लिये तैयार न होनेपर अंत करना सरल कार्य होगा। यदि लेनिनने विरोधके बावजूद भी अकेले रहकर अपने विचारोंके समर्थक प्राप्त कर लिये तो इसका अर्थ यह नहीं कि स्टालिन भी अपनेसे भिन्न मत रखनेवाले व्यक्तियोंके प्रति इतने ही सहनशील बने रहेंगे। तर्कद्वारा उन्हें शांत करनेमें असफल होने पर स्टालिनने आतंकका सहारा लिया। इसकी पुनरावृत्ति हो सकती है।

समाजवादी संसारकी साम्यवादी पार्टियाँ अपने अंदर किसी बड़े या छोटे स्टालिनके उदयको रोकनेके लिये संस्था गत नियमोंमें मौलिक संशोधनकी आवश्यकता समझते हैं। किन्तु संशोधनकी यह प्रक्रिया निश्चितरूपसे धीमी है।

स्वतंत्रताके व्यक्त उल्लंघनोंको समाप्त किया जा रहा है। मुकदमोंकी पवित्रता-को पुनः स्थापित किया जा रहा है। समाजवादी जनतंत्र और उसके व्यवहार-विषयक संकीर्ण धारणाओं पर उग्र विवाद हो रहा है। कुछ पार्टियोंकी गति दूसरोंकी अपेक्षा अधिक तीव्र है, किन्तु मौलिक सिद्धांतोंमें आकस्मिक संशोधनकी सम्भावन नहीं है। अनुभव द्वारा यह जाँच विस्तीर्ण होगी और नयी धारणाओंको जन्म देगी।

क्या पूँजीजीवियोंके निर्वाचनों और संसदोंको एक साथ रद्द करना उचित होगा अथवा उनमें कुछ स्वीकारात्मक गुण हैं, जिनकी रक्षा करके उन्हें विकसित किया जा सकता है? क्या साम्यवादी पार्टी राष्ट्रीय हितकी समस्याओं पर गुप्त रूपसे विवाद करके निश्चय करनेकी प्रणाली जारी रख कर पार्टीके बाहरवाली जनताको विपरीत प्रवृत्तियोंको स्वयं समझ कर निर्णय करनेके अवसरसे वंचित करना जारी रख सकती है? क्या पार्टी सदस्यको सदैव किसी नीतिविषयक विरोधके जनताके सामने प्रकट करनेमें रोक रहनी चाहिये और क्या उसे अपने दृष्टिकोणको उस समय भी प्रचारित करनेकी स्वतंत्रता हो सकती है, जब कि बहुमतका निर्णय इस सिद्धांतके विरुद्ध हो? क्या समाजवादी वैधता न्यायविभागकी पूर्ण स्वतंत्रता आवश्य समझती है और यह कैसे प्राप्त की जा सकती है? क्या जनताको सम्बंधित सामूहिक संगठनोंके द्वारा ही अपने अनुमोदन और अननुमोदनको व्यक्त करना चाहिये और क्या किसी संगठनको ऐसे दृष्टिकोणको प्रचारित करनेका अधिकार है, जो निर्णित नीतिके विरुद्ध हो? क्या लेखकों, कलाकारों और गायकोंको यह बतलाना आवश्यक है कि उन्हें क्या लिखना या क्या प्रदर्शित करना चाहिये या लोगोंको उन्हें संरक्षण देनेकी स्वतंत्रता रहनी चाहिये? प्रसिद्ध व्यक्तियोंद्वारा निर्मित समितियोंका शासन लोक-तांत्रिक कैसे हो सकता है जब कि समितियाँ स्वयं निहित स्वार्थोकी पोषक बन सकती हैं? नौकरशाही अधिकारियोंके शासनको रोकनेके लिये आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संगठनोंका विकेन्द्रीकरण किस सीमा तक होना चाहिये, जिससे विभिन्न क्षेत्रोंके कार्यक्रमोंकी नीति विशिष्ट प्राप्त अनुभवोंके द्वारा निर्धारित की जा सके?

यह उन अनेक प्रश्नोंमेंसे कुछ हैं जिनपर विवाद हो रहा है। यह प्रश्न निरर्थक प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु वास्तवमें ऐसे नहीं हैं। हम ऐसे संसारमें निवास करते हैं, जहाँ शक्ति अधिकाधिक केन्द्रित करके विभिन्न दिमागी न्यासोंके हाथमें

सापी जा रही है। पूँजीजीवी कोई प्रभावकारी उपचार प्रस्तुत करनेमें असमर्थ रहे हैं, क्योंकि पूँजीजीवी समाज मौलिक समानताका अपवंचन करता है, जो प्रजातंत्रका एक मात्र आधार है। अतएव समाजवादी राज्यके सम्मुख यही प्रमुख कार्य है।

कुछ लोगोंका यह तर्क है कि राज्ययंत्र और नौकरशाहीका इतना अधिक विश्वास करनेवाली और जन्मसे ही स्वतंत्रताको हिंसा द्वारा नष्ट करनेवाली व्यवस्थासे ऐसे कार्य संपादनकी कल्पना करना भी बेकार है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि यदि पार्टीकी सीमाओंसे आगे भयंकर आतंकका वातावरण विद्यमान होता तो इतने शक्तिपूर्ण प्रयत्न सम्भव न हो सकते, जिनके द्वारा एक पिछड़ा हुआ समाजवादी देश कुछ दशाब्दियोंमें ही आधुनिक औद्योगिक राज्य बन गया है।

सभी उपलब्ध प्रमाणोंसे यह मालूम पड़ता है कि स्टालिनके ढंगोंने सिर्फ पार्टीको पूर्ण निर्माणात्मक शक्तिके रूपमें ही अपंग कर दिया। यह सच है कि किन्हीं क्षेत्रोंमें राष्ट्रीय अल्पमतका शारीरिक उच्छेदन हुआ, यहूदी संस्कृति पर प्रहार हुआ, पार्टीके बाहरी तत्वोंकी परेशानियाँ हुईं और भय एवं संदेह चारों ओर व्याप्त था, किन्तु इन आतंकवादी प्रक्रियाओंसे जनताकी अपेक्षा पार्टीको अधिक हानि उठानी पड़ी।

यदि ऐसा नहीं होता तो स्टालिनका नाम सोवियत जनताकी एकताका प्रतीक नहीं बन पाता और न लोगोंको ऐसे बलिदान करनेके लिये विवश किया जा सकता, जिन्हें विद्रोही आलोचक भी महत्वपूर्ण एवं अद्वितीय मानते हैं। पुनः यदि वास्तविकता भिन्न होती तो क्षतिपूर्ण परिणामोंसे निर्भय रहते हुए आसानीके साथ स्टालिनको हटाना सम्भव होता।

स्वतंत्र प्रेक्षक भी समाजवादी देशोंके अंदर नीतियोंको कार्यान्वित करनेमें जनताके सामूहिक सहयोगकी पुष्टि करते हैं। इसी सहयोगके समानांतर कार्य पूँजीवादी समाजके प्रतिपादक नहीं दिखला सकते। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादी राष्ट्रोंमें जैसा आतंक फैला होता है और उसकी तुलनामें समाजवादी देशोंका आतंक बहुत कम मालूम पड़ेगा।

साम्राज्यवादको कायम रखनेके लिये कितने लाख आदमियोंको चुपचाप हलाल कर दिया गया? ओठों पर स्वतंत्रताके नारोंके साथ कितने हजार आदमियोंको अब भी पश्चिमी दूरस्थ प्रदेशोंके सैनिकों द्वारा मौतके घाट उतारा जा रहा है?

साम्राज्यवादियोंको बोरिया-बिस्तरके साथ अंतिमरूपसे स्वदेश वापिस लौटानेसे पहले कितने हजार आदमियोंको अभी और नष्ट होना पड़ेगा? यह प्रश्न पर्याप्त हैं। हम लाखों व्यक्तियोंकी तो गिनती ही नहीं कर रहे हैं, जिन्हें उपनिवेशोंमें बीमारियों और अस्वास्थकर परिस्थितियों के कारण नष्ट होना पड़ा या जो नष्ट हो रहे हैं।

समाजवादी देशोंने लोकतंत्रको फलने-फूलनेका आधार प्रस्तुत कर दिया है और समाजवादी स्वतंत्रताके क्षेत्रको विस्तीर्ण करनेवाला युग परिवर्तित होगा, जिसके फलस्वरूप जनसाधारणकी प्रज्ञा और निर्माणात्मक प्रयत्नोंपरसे बंधन हटते जायँगे। इस बात पर संदेह करनेवाले व्यक्तियोंको एक महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार करना चाहिये, जिस पर अभी ध्यान नहीं दिया गया है। समजवादको आज प्रथम बार संसारकी एक व्यवस्थाके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है, एक ऐसे समुदायके रूपमें जिसकी ओर मानवजाति अग्रसर हो रही है। दोष निरूपणके समस्त प्रयत्न भी इस तथ्यको नहीं छिपा सकते।

पूँजीवादकी अवनति हो रही है। वह अपने स्वयंके अंतर्विरोधोंमें उलझ गया है। निर्धन व्यक्ति पूँजीका उत्पादन करते हैं, किन्तु अपेक्षाकृत दरिद्रतामें ही उन्हें जीवन-यापन करना पड़ता हैं। प्रमुख रूपसे जन्म और उत्तराधिकार द्वारा धन प्राप्त करनेवाले अधिक धनवान होते जाते हैं। जहाँ अंतर्विरोधोंको नहीं सुलझाया जा सकता, वहाँ तनावकी स्थिति पैदा हो जाती है। यद्यपि पूँजीवाद प्रत्येक संकटको दबानेके लिये समाजवादी विचारों द्वारा निर्धारित उपचारोंका प्रयोग कर रहा है, किन्तु फिर भी वे बढ़ते ही जायँगे। संयुक्त राज्य अमेरिका कुछ भी कहे पर वह भी इस दबावका अनुभव कर रहा है और यह दबाव बढ़ता ही जायगा।

अभी अधिक दिन नहीं हुए जब एक व्यंगचित्रमें समाजवादी प्रतिपादकको एक अजीब झक्कीके रूपमें निराशाओंका गट्ठर लादे दिखलाया गया था। वह लम्बे

बालोंका, बिना हजामत किये बुरी शकलवाला, चिंतित, अपराधी, क्रूर और उपयुक्त अवसरपर बंदी किये जाने योग्य जानवर प्रतीत होता था। विश्वकी अधिकतर जनसंख्याकी समझमें अब ऐसी मूर्ति नहीं आ सकती। वे समाजवादी हैं और उन्हें इस मूर्तिके साथ कोई समानता नहीं दीख पड़ती। आजकल पूँजीवादके उपदेशकोंको विचित्र प्राणी समझा जाता है। इतिहास गतिशील है। जीवनके मूल्य बदलते हैं। और सम्भव है; थोड़े दिनों पश्चात् ऐसे विचारकोंको डाक्टरी विवेचन योग्य नमूने समझा जाने लगे।

वर्तमानकालका यह प्रमुख तथ्य है, ऐसा तथ्य जिसके कारण समाजवादी राज्यको संप्रदायवाद, नौकरशाही और भ्रष्टाचारकी समस्याओंके साथ मल्लयुद्ध करनेमें सहायता मिलती है, क्योंकि उन्हें अब यह डर नहीं है कि पूँजीवादी विचारधाराको पुनर्जीवित करनेकी इच्छा रखनेवाले लोगों द्वारा इन क्षेत्रोंके परीक्षणोंका उनके विरुद्ध उपयोग किया जा सकता है। अंतिम विवेचनासे यह पता चलता है कि अनेक छोटे-बड़े देशोंमें समाजवादका अस्तित्व तथा भारत सरीखे देशोंमें नया समाजवादी प्रयोग इस बातकी एक नई गारंटी है कि संकुचित दृष्टिकोण, गलतियोंको ठीक करनेकी अनिच्छा, कट्टर और अवैज्ञानिक दृष्टिकोण सदैव नहीं बना रह सकता। क्या सोवियत संघके दुःखपूर्ण भयंकर और क्रूर अनुभवोंका अन्य समाजवादी सरकारों द्वारा शिक्षा ग्रहण करनेके उद्देश्यसे यथेष्ट ध्यानपूर्वक अध्ययन नहीं हो रहा है? यह भावना और सोवियत नेताओंकी स्वकीय आलोचना ऐसी बातें हैं, जिनसे उनके शत्रुओंको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

लेनिनकी शिक्षाओंकी ओर प्रतिगमन, जिसका अर्थ अविश्वासपूर्ण वर्तमान वामपक्षी पार्टियोंमें एक वीरके स्थानपर दूसरेकी प्रतिष्ठा लगाया जाता है, साम्यवादी विचार और व्यवहारके मूल सिद्धान्तोंकी ओर वापसीका सूचक है। लेनिनका पुनर्अध्ययन करते समय, यदि उन्हें अनावश्यक रूपसे उद्धृत करनेका अपरिष्कृत ढंग अपनाया जाता है, तो यह मालूम पड़ेगा कि इस अंतिम पथभ्रष्टताका कारण लेनिनके विचारोंको पहलेसे पूर्णतया भिन्न युगमें यंत्रवत् दुहराना है। स्पष्टतः लेनिनवादके मूलमें पहुँचकर सामाजिक प्रगतिके प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोणके पुनर्निर्धारणका और इसके उपरांत उसमें संशोधन करके निर्माणात्मक सुधार

करनेका एकमात्र विवेकपूर्ण मार्ग है। यदि संगठन-विषयक दोषपूर्ण विचारोंको आवृत करनेके लिये लेनिनको उद्धृत किया जाता है, तो इस बातको सहन नहीं किया जा सकता। इसकी उपमा स्वीकार्य होनेके लिये स्टालिनको उद्धृत करनेसे दी जा सकती है।

स्पष्टतः भारतीय नेहरूने इस बार भी इस ऐतिहासिक विकासको समझनेकी प्रवृत्ति दिखलाई है। बीसवीं कॅंग्रिसके निर्णय संसारकी समस्याओंपर क्या प्रभाव डाल सकते हैं, इस बातको अच्छी तरह समझनेके पश्चात नेहरूने सोवियत नेताओंके साहसी कार्यमें समर्थन प्राप्त करनेके लिये राजनैतिक स्तर एक निश्चयात्मक अंतर्राष्ट्रीय अभियान आरम्भ कर दिया है।

वे राष्ट्रमंडलके राजनीतिज्ञोंमें इस अभियानको सफलतापूर्वक चला रहे हैं और उन्हें यह बात माननेपर विवश कर रहे हैं कि सोवियत व्यवस्थाको 'उदार' बनानेके लिये महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय कदम उठाये गये हैं। यह स्थिति संयुक्त राज्य अमेरिकाके विरुद्ध है। वे सभी लोगोंसे इस विषयपर बातचीत कर रहे हैं तथा उन पर सोवियत संघके प्रति अपना दृष्टिकोण बदलनेके लिये जोर डाल रहे हैं।

सोवियत संघ तथा शेष समाजवादी संसारमें होनेवाली यह प्रगति नेहरूको उन देशोंके तथा भारतके मध्यस्थित अत्यंत गम्भीर मतभेदोंको दूर करनेके प्रयत्नोंका प्रतिनिधित्व करती मालूम पड़ती है। उनका विचार सदैव यही रहा है कि साम्यवादके ढंग ही बुरे हैं अर्थात् अपेक्षित 'लक्ष्य' को प्राप्त करनेके वे 'तरीके' जिनकी विवेकपूर्ण युक्तयुक्तता वे नहीं बतला सकते। नेहरूके विचारोंमें अब भारी परिवर्तन हो गया है। अब वे अपने देशके करोड़ों व्यक्तियोंके ही नहीं वरन संसार भरके उन करोड़ों व्यक्तियोंके भी प्रतिनिधि हैं, जो विश्वमें समाजवादी युग लानेके लिये किसी दिन साम्यवादियोंसे संयुक्त हो जायँगे।

इस समय भी जब कि यह पक्तियाँ लिखी जा रही हैं, अब तक विरोधी समझे जानेवाले वामपक्षियों और साम्यवादी पार्टियोंमें अर्थात् अधिकतम कटु शत्रुओंमें समझौतेकी बात-चीत जारी है। सभी देशोंमें यह सामान्य दृश्य है। प्रभाव और शक्तिसे पूर्ण ऐसे भी अनेक आदमी हो सकते हैं, जो इन प्रवृत्तियोंका विरोध करेंगे,

क्योंकि वे इसमें अपने वर्गयुक्त समाजके लिये एक खतरा देखते हैं, किन्तु इस सौहाद्रताका प्रसार होता ही जायगा।

'पंचशील' ये दो भारतीय शब्द जिन्हें नेहरू-चू घोषणाके समय उपेक्षाके साथ निरर्थक कहकर टाल दिया गया था, आज सौहाद्रताका नारा बन गये हैं। वही दो शब्द सदैवके लिये अंतर्राष्ट्रीय वक्तृताकी शब्दावलीमें सम्मिलित कर लिये गये हैं। हमें यह देखना चाहिये कि वे संसारको इतने सार्थक क्यों दीखते हैं।

पंचशील क्यों ?

जलते अंगारोंकी एक बौछार आई, जिसमें मृतकोंका रक्त और अस्थियाँ मिली हुई थीं। धुएँ और विलक्षण लपटोंने उनकी आत्माको डरा दिया। आकाश गर्दभकी खालके समान धूमिल हो रहा था।

—कालीदास

क़बाइली समुदायोंमें हजारों वर्ष पहले रहनेवाले पूर्वकालीन मनुष्योंके सामने कागज या पेड़की छालपर लिखकर अपने विचार व्यक्त करना सीखनेसे पहले भी, सदैव यही प्रमुख प्रश्न रहा होगा कि क्या वे अपने साथियोंके साथ शांतिपूर्वक रहकर जीवन-यापन कर सकते हैं ?

अनेकों शताब्दियोंमें तद्विषयक तर्कों और अनुमानोंकी गूंज रही है। पूर्व-कालीन अनुभवोंके आधारपर अधिकतर दार्शनिक और इतिहासकार इस निराशापूर्ण निर्णयपर पहुँचे हैं कि मनुष्यकी प्रकृति ही उसे अभ्याक्रमी बननेपर विवश करती है। दूसरे लोगोंने अधिक आशापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया, किन्तु उनकी संख्या कम थी और वे यह दृढ़ विश्वास भी उत्पन्न न कर सके, क्योंकि भूत और वर्तमान कालीन प्रमाण उनके दृष्टिकोणको निरर्थक सिद्ध करते थे।

भिन्न-भिन्न राजनैतिक व्यवस्थावाले देशोंके शांतिपूर्ण सहअस्तित्वका प्रश्न तो दरअसल कभी उठा नहीं था। इसका प्रमुख कारण यह था कि थोड़ेसे अवसरोंको छोड़कर साथ-साथ रहनेवाले अनेक संगठित समुदायोंकी सामाजिक व्यवस्थामें सदैव लगभग समानता रही। स्वतंत्र कृषकों, गुलामधारियों, कुलीन तंत्रियों और सामंतोंके अनेक समुदाय बने और बिगड़े। फिर पूँजीवाद आया और उसके परिवर्द्धित रूपके सामने अधिकतर विजयोंके कारण पुरानी व्यवस्थाओंको घुटने टेकने पड़े। प्रथम पूँजीवादी राज्य १७ वीं शताब्दीके पश्चात् सामंतवादी राज्योंके साथ बाजार और कच्चे मालके लिये युद्ध करने लगे। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दीमें विश्वको परस्पर

विभाजित करनेके प्रश्नको लेकर उनमें आपसमें युद्ध हुए। इसमें एशिया और अफ्रीकाके सामंतवादी राज्योंपर प्रभुत्व स्थापित करना अंतर्निहित था, क्योंकि यह स्थान सस्ते अन्न और कच्चे मालके साधन थे। यह सरासर लूट थी और साथ ही साम्राज्यवादी युगका उदय था।

इस संपूर्ण अवधिमें कभी-कभी शांतिका भी शासन रहा, किंतु इस शांतिकी प्रकृति अधिकतर संसारकी अन्य दौलतों पर विजय प्राप्त करनेसे पूर्व 'विश्रामकाल' या 'साँस लेने' के अनुरूप थी। आजकल जिसे सहअस्तित्व कहते हैं, यह समस्या तो उन दिनों विवादके लिये भी नहीं थी। सम्भवतया औपनिवेशिक लूटके समान बँटवारेके प्रश्न पर ही लोगोंका ध्यान केंद्रित था।

किन्तु समाजवादी आंदोलनके प्रसार और संयुक्त सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक नामक मजदूरोंके प्रथम राज्यके अभ्युदयके साथ ही इस परिस्थितिमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। अपने विस्तृत साम्राज्योंपर अधिष्ठित पूँजीवादी राष्ट्रोंने समाजवादके अभ्युदयमें अपने असीमित लाभके साधनोंके लिये एक सजीव खतरेके दर्शन किये।

तथा छोटे-मोटे पारस्परिक अपनी समस्त शक्तिको एकत्रित करके, अंतरोंको मिटाकर साम्राज्यवादियोंने मजदूर राज्यको नष्ट करनेका प्रयत्न किया, जिसे वे समाजवादरूपी नासूरका केन्द्र समझते थे। इसके विरुद्ध समाजवादने सर्वसाधारणको औपनिवेशिक और पूँजीवादी दासतासे मुक्ति दिलानेके लिये निडरताके साथ अपना लक्ष्य 'साम्राज्यवादका अंत' घोषित कर दिया।

दो सिद्धांत, जिनमें एक पुरानी और लूटसे बनी थी तथा दूसरी नई और ओजस्वी थी, परस्पर टकरानेके लिये आगे बढ़ रहे थे। परिणामस्वरूप जो तनाव उत्पन्न हुआ उससे समस्त विश्व प्रभावित हो गया। बीसवें, तीसवें और चालीसवें वर्षोंका इतिहास भी इसी भारी संघर्षकी कहानी बतलाता है। यही संघर्ष अब तक जारी है। सहअस्तित्वके द्वारा इसीके रूपपरिवर्तनका प्रयत्न हो रहा है।

यह कैसे सम्भव हुआ जब कि ये दोनों सिद्धांत अब भी एक दूसरेके विरुद्ध संघर्षरत हैं ? यह बात आसानीसे समझी जा सकती है। भविष्यमें युद्धको स्थानीयकरण करने या किसी अन्य क्षेत्रमें सीमित करनेकी वस्तु नहीं

समझा जा सकता। आणविक और उद्जन शस्त्रास्त्रोंके विकासके साथ युद्धका रूप ही परिवर्तित हो गया है।

आणविक और उद्जन युद्ध कहीं भी हो, किन्तु वह समस्त संसारको रेडियो सक्रियताके परिणामस्वरूप होनेवाले कष्टोंसे आच्छादित कर देगा। समाचारपत्र प्रतिदिन हमें यह बतलाते हैं, कि क्या हो सकता है। बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता आदि तटस्थ नगर किसी अन्य स्थानपर होनेवाले आणविक युद्ध द्वारा नेस्तनाबूद होनेसे बच सकते हैं, किन्तु रेडियो सक्रियता रूपी विषके शिकार तो हो ही जायँगे, जिसके पूर्ण प्रभाव अभी विज्ञान हमें नहीं बतला सका है।

दूसरे शब्दोंमें, सर्वनाशी अस्त्र प्रत्येक जीवित मानवके लिये चिंताका कारण बन गये हैं, क्योंकि वे राष्ट्रों और सिद्धांतोंका अंतर नहीं समझते। इस मध्य शताब्दीका यह महत्वपूर्ण तथ्य है।

आइये, उन थोड़ी-सी बातोंपर विचार कर लें, जिनपर स्वयं वैज्ञानिक सहमत हैं। अधिकतर लोगोंका यही विचार है कि आणविक और उद्जन आयुधोंके अब तक जो १०० छोटे-मोटे परीक्षण सोवियत संघ, प्रशांत महासागर और संयुक्त राज्य अमेरिकामें हुए हैं, उन्होंने समस्त संसारको भयंकर रेडियो सक्रियतासे आच्छादित कर दिया है। मानवजाति और वनस्पति जीवनपर उनके प्रभावका अनुमान लगानेमें अभी अनेक दशाब्दियाँ लगेंगी। सम्भवतया अमेरिका महाद्वीप सबसे अधिक अरक्षित हैं, क्योंकि प्रशान्त महासागरीय द्वीपोंके लिये अरक्षित भयंकर विस्फोटोंके अतिरिक्त यहीं पर अधिकतर परीक्षणात्मक विस्फोट हुए हैं। अब यह धारणा बल प्राप्त करती जा रही है कि उन्होंने समस्त जीव-जगतको बड़ा भारी नुकसान पहुँचाया होगा। ऐसा नुकसान जिसे प्रारम्भमें खोजना सरल नहीं है।

इसकी शिक्षा स्पष्ट है। जीवधारियोंको मौसमी एवं अन्य परिस्थितियोंमें होनेवाले परिवर्तनके अनुरूप बननेमें हजारों वर्ष लग गये। यदि सूर्यके प्रकाश तथा जल एवं वायुकी अंतर्वस्तुके अत्यंत नाजुक संतुलनमें कुछ हलचल होती है, तो उनके ऊपर आश्रित जीवों पर उनका असर पड़ना अनिवार्य है। एक बार हलचल होनेके पश्चात कोई आसानीसे इस बातकी भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि आगे क्या होगा। जैविक परिवर्तन होंगे जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।

विभाजित करनेके प्रश्नको लेकर उनमें आपसमें युद्ध हुए। इसमें एशिया और अफ्रीकाके सामंतवादी राज्योंपर प्रभुत्व स्थापित करना अंतर्निहित था, क्योंकि यह स्थान सस्ते श्रम और कच्चे मालके साधन थे। यह सरासर लूट थी और साथ ही साम्राज्यवादी युगका उदय था।

इस संपूर्ण अवधिमें कभी-कभी शांतिका भी शासन रहा, किंतु इस शांतिकी प्रकृति अधिकतर संसारकी अन्य दौलतों पर विजय प्राप्त करनेसे पूर्व 'विश्रामकाल' या 'साँस लेने' के अनुरूप थी। आजकल जिसे सहअस्तित्व कहते हैं, यह समस्या तो उन दिनों विवादके लिये भी नहीं थी। सम्भवतया औपनिवेशिक लूटके समान बँटवारेके प्रश्न पर ही लोगोंका ध्यान केंद्रित था।

किन्तु समाजवादी आंदोलनके प्रसार और संयुक्त सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक नामक मजदूरोंके प्रथम राज्यके अभ्युदयके साथ ही इस परिस्थितिमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। अपने विस्तृत साम्राज्योंपर अधिष्ठित पूँजीवादी राष्ट्रोंने समाजवादके अभ्युदयमें अपने असीमित लाभके साधनोंके लिये एक सजीव खतरेके दर्शन किये।

तथा छोटे-मोटे पारस्परिक अपनी समस्त शक्तिको एकत्रित करके, अंतरोंको मिटाकर साम्राज्यवादियोंने मजदूर राज्यको नष्ट करनेका प्रयत्न किया, जिसे वे समाजवादरूपी नासूरका केन्द्र समझते थे। इसके विरुद्ध समाजवादने सर्वसाधारणको औपनिवेशिक और पूँजीवादी दासतासे मुक्ति दिलानेके लिये निडरताके साथ अपना लक्ष्य 'साम्राज्यवादका अंत' घोषित कर दिया।

दो सिद्धांत, जिनमें एक पुरानी और लूटसे बनी थी तथा दूसरी नई और ओजस्वी थी, परस्पर टकरानेके लिये आगे बढ़ रहे थे। परिणामस्वरूप जो तनाव उत्पन्न हुआ उससे समस्त विश्व प्रभावित हो गया। बीसवें, तीसवें और चालीसवें वर्षोंका इतिहास भी इसी भारी संघर्षकी कहानी बतलाता है। यही संघर्ष अब तक जारी है। सहअस्तित्वके द्वारा इसीके रूपपरिवर्तनका प्रयत्न हो रहा है।

यह कैसे सम्भव हुआ जब कि ये दोनों सिद्धांत अब भी एक दूसरेके विरुद्ध संघर्षरत हैं? यह बात आसानीसे समझी जा सकती है। भविष्यमें युद्धको स्थानीयकरण करने या किसी अन्य क्षेत्रमें सीमित करनेकी वस्तु नहीं

समझा जा सकता। आणविक और उद्‌जन शस्त्रास्त्रोंके विकासके साथ युद्धका रूप ही परिवर्तित हो गया है।

आणविक और उद्‌जन युद्ध कहीं भी हो, किन्तु वह समस्त संसारको रेडियो सक्रियताके परिणामस्वरूप होनेवाले कष्टोंसे आच्छादित कर देगा। समाचारपत्र प्रतिदिन हमें यह वतलाते हैं, कि क्या हो सकता है। बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता आदि तटस्थ नगर किसी अन्य स्थानपर होनेवाले आणविक युद्ध द्वारा नेस्तनावूद होनेसे बच सकते हैं, किन्तु रेडियो सक्रियता रूपी विषके शिकार तो हो ही जायँगे, जिसके पूर्ण प्रभाव अभी विज्ञान हमें नहीं बतला सका है।

दूसरे शब्दोंमें, सर्वनाशी अस्त्र प्रत्येक जीवित मानवके लिये चिंताका कारण बन गये हैं, क्योंकि वे राष्ट्रों और सिद्धांतोंका अंतर नहीं समझते। इस मध्य शताब्दीका यह महत्वपूर्ण तथ्य है।

आइये, उन थोड़ी-सी बातोंपर विचार कर लें, जिनपर स्वयं वैज्ञानिक सहमत हैं। अधिकतर लोगोंका यही विचार है कि आणविक और उद्‌जन आयुधोंके अब तक जो १०० छोटे-मोटे परीक्षण सोवियत संघ, प्रशांत महासागर और संयुक्त राज्य अमेरिकामें हुए हैं, उन्होंने समस्त संसारको भयंकर रेडियो सक्रियतासे आच्छादित कर दिया है। मानवजाति और वनस्पति जीवनपर उनके प्रभावका अनुमान लगानेमें अभी अनेक दशाब्दियाँ लगेंगी। सम्भवतया अमेरिका महाद्वीप सबसे अधिक अरक्षित हैं, क्योंकि प्रशान्त महासागरीय द्वीपोंके लिये अरक्षित भयंकर विस्फोटोंके अतिरिक्त यहीं पर अधिकतर परीक्षणात्मक विस्फोट हुए हैं। अब यह धारणा बल प्राप्त करती जा रही है कि उन्होंने समस्त जीव-जगतको बड़ा भारी नुकसान पहुँचाया होगा। ऐसा नुकसान जिसे प्रारम्भमें खोजना सरल नहीं है।

इसकी शिक्षा स्पष्ट है। जीवधारियोंको मौसमी एवं अन्य परिस्थितियोंमें होनेवाले परिवर्तनके अनुरूप बननेमें हजारों वर्ष लग गये। यदि सूर्यके प्रकाश तथा जल एवं वायुकी अंतर्वस्तुके अत्यंत नाजुक संतुलनमें कुछ हलचल होती है, तो उनके ऊपर आश्रित जीवों पर उनका असर पड़ना अनिवार्य है। एक बार हलचल होनेके पश्चात कोई आसानीसे इस बातकी भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि आगे क्या होगा। जैविक परिवर्तन होंगे जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।

कुछ वैज्ञानिक जलवायुमें सभी स्थानोंपर स्पष्ट रूपसे परिलक्षित होनेवाले परिवर्तनोंको इंगित कर रहे हैं। यह परिवर्तन सम्भवतया मनुष्य निर्मित दैत्याकार विस्फोटोंके परिणाम स्वरूप हुए हों, जिनके विषयमें कहते हैं कि वे ऊपरी वायुमंडलमें हलचल पैदा कर सकते हैं।

इस तनावमें सामान्य कमी आनेके बावजूद भी आणविक और उष्म नभिकीय अनुसंधानके ऊपर गोपनीयताका आवरण चढ़ा हुआ है। इतने पर भी उद्‌जन बम विस्फोटोंके विषयमें अब कुछ तथ्य उपलब्ध हो गये हैं। हम जानते हैं कि इन विस्फोटों पर कार्य करनेवाले वैज्ञानिक उनकी भीषण शक्तिको देखकर स्तंभित रह गये हैं। सेकिंडके एक अंशमें ही विस्फोटके दरम्यान सूर्यके अंतर्मार्गके बराबर गर्मी उत्पन्न हो जाती है। इस सिद्धिकी सम्भावनापर कुछ वर्षों पहले किसीको विश्वास न होता।

आणविक वैज्ञानिकोंने गणना करके अब यह दृष्टिकोण बना लिया है कि एक ही स्थलपर बारबार विस्फोट सम्भवतया इतनी अधिक रेडियो-सक्रियता उत्पन्न कर सकते हैं कि शायद पृथ्वी पर जीवित रहना भी असम्भव हो जाय। यह भी सच है कि इन सिद्धान्तोंका समान योग्य वैज्ञानिक ही खंडन अथवा परिष्कार कर रहे हैं, किन्तु सभी लोग इस बातसे सहमत हैं कि हम लोग ऐसे अस्त्रोंसे खेलना नहीं सह सकते, जिनकी शक्तिको अभी तक न तो अच्छी तरह समझा जा सका हो और न उसकी गणना ही की जा सकी हो।

इस कारण मौलिक रूपसे यह बात समझना अत्यंत आवश्यक है कि इन दिनों संसार जिस संघर्षको देख रहा है, वह उन लोगोंके बीचमें है, जो व्याप्त अंतर्राष्ट्रीय समस्याओंको विचार-विमर्श करके तय करना चाहते हैं तथा दूसरे लोग जो इसका फैसला युद्धस्थलमें करना चाहते हैं। अब यह संघर्ष साम्यवाद और साम्यवाद विरोधियोंका संघर्ष नहीं है। संसारके दृष्टिकोणमें यह परिवर्तन आणविक युद्धके परिणामोंको अच्छी तरह समझनेके कारण सम्भव हो सका है। वस्तुतः साम्यवादके कट्टर विरोधी भी शांति-प्रयत्नोंमें सम्मिलित हो रहे हैं अथवा उसमें सम्मिलित होनेकी आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। २० वर्ष पहले यह वातावरण सम्भव नहीं हो सकता था।

जिस समय आणविक शस्त्रोंपर संयुक्त राज्य अमेरिकाका ही एकाधिपत्य था, उस समय बंदूकबाजीमें प्रसन्न रहनेवाले एडमिरल और जनरल भी, जो युद्धके द्वारा साम्यवादियोंको नष्ट करनेपर तुले हुए थे, इन नये प्रत्यावर्तक खिलौनोंके प्रयोगसे झिझक रहे थे। अब यह परिस्थिति और भी अधिक उलझ गई है, क्योंकि ऐसा कोई एकाधिपत्य शेष नहीं रह गया है तथा सोवियत विज्ञानने केवल इन्हीं पर दक्षता प्राप्त नहीं कर ली है, बल्कि आणविक अनुसंधानमें भी संसारमें आगे निकल गये हैं। रूसने प्रथम उद्जन बमका विस्फोट किया है, एक ऐसा शस्त्र जिसकी विस्फोटक शक्ति अनेकों लाख टन टी० एन० टी० के बराबर है तथा जिसमें हीरोशिमा और नागासाकीको हिला देनेवाली आणविक प्रक्रियाको संकुचित कर दिया गया है।

इस कारण सभी लोग अब यह बात अच्छी तरह समझ गये हैं कि साम्यवाद या पूँजीवादमेंसे किसीपर आकस्मिक आणविक अभियान द्वारा विजय प्राप्त नहीं की जा सकती तथा इन दोनों सिद्धांतके समर्थकोंका सहअस्तित्व आवश्यक है, क्योंकि इस समय इस बातकी कोई सम्भावना नहीं कि इनमेंसे कोई भी इस पृथ्वीको छोड़कर शून्यमें किसी अन्य नक्षत्रपर निवास करने चला जाय इन दोनोंको साथ-साथ एक दूसरेके पार्श्वमें रहते हुए लोगोंको यह निश्चय करनेकी स्वतंत्रता देनी पड़ेगी कि कौन-सी व्यवस्था उनके भविष्यका निर्माण करेगी।

इस बातकी स्वीकारता ही निरंतर विस्तृत होनेवाली शांतिकी भावनाओंका आधार है, जिसने युद्धके इच्छुकोंको पूरी तरह एकांगी बनानेका बीड़ा उठा लिया है। भारतने इस भावनाको विस्तीर्ण करने और उसे शक्तिपूर्ण बनानेका भारी प्रयत्न किया है। संयुक्तराज्य अमेरिकाके उच्चतम क्षेत्रोंमें भी यह दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। झगड़ोंके निर्णयके लिये युद्धका ढंग त्यागनेके यह प्रथम चिन्ह हैं।

झगड़े अब भी हैं और हजारों। संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा जो साम्राज्यवादका एकमात्र आधार रह गया है, इनमेंसे प्रत्येकका सावधानीके साथ पोषण किया जाता है, इस परिवर्तनको जिसने अमेरिका तथा उसके पृष्ठपोषक अन्य प्राचीन तर साम्राज्यवादोंके पारस्परिक तीव्र संघर्षों और विरोधोंको आच्छादित कर रखा है। समाजवादी संसारको सुदृढ़ करनेके प्रयत्न निष्क्रिय बना देते हैं।

इस सुदृढ़ताके साथ-साथ प्रशासनिक उदारताने न केवल साम्राज्यवादी शक्तियोंके पारस्परिक तनावको अधिक उत्तेजित कर रखा है, वरन् क्रमानुसार स्वतंत्रता और सार्वभौमिकताके दर्शन करनेवाले एशिया और अफ्रीकाके पूर्वकालीन उपनिदेवेशोंकी भी स्थितको अधिक सुदृढ़ कर दिया है। साम्राज्यवादी दबावके सामने वे अब अपने आपको अरक्षित नहीं पाते हैं। अब उनको भयाभिभूत नहीं किया जा सकता। इन क्षेत्रों और बाजारोंको सम्राजवादी दुनियाँके भाग बननेसे बचानेके लिये साम्राज्यवादको मखमली हस्तत्राणोंका प्रयोग करके देखना चाहिये।

भूभागोंपर शारीरिक अधिकार आजकल लाभप्रद ढंग नहीं रह गया है, जिसके द्वारा साम्राज्यवाद समृद्धि प्राप्त कर सकता। भूतकालमें इससे लाभ प्राप्त हुआ था किंतु अब वर्षोंसे दलित किया जानेवाला जनसमूह इसे सहन नहीं कर सकता। हिन्द चीन, मलाया, कीनिया और उत्तरी अफ्रीकाकी घटनाओंका साक्षात्कार कीजिये। यह सब उपनिवेशोंमें काममें लाये जानेवाले कीमती दुःसाहसिक कार्य हैं, जिनकी असफलता निश्चित है।

अतः साम्राज्यवाद सरकारोंको पथभ्रष्ट करनेका षड़यंत्र रचता है, उनकी इच्छाका पालन करनेके लिये तैयार देशोंपर डालरोंकी वर्षा की जाती है। प्राथमिक रूपसे ऐसे कूटनीतिज्ञोंकी खोज होती है जो अपनी शक्तिका दुरुपयोग करनेके लिये तैयार हों। उसके उपरांत ऐसे व्यक्ति अपने देशकी सरकार बेचनेमें सहायता करते हैं। इस प्रकार जनताको भुलावेमें डालनेका प्रयत्न किया जाता है तथा सिंगमेनरी और च्यांग-काई-शेक सरीखे लोगोंको "स्वतंत्रताके कारण" में अपने आपको उत्सर्जित कर देनेवाले जनप्रिय नेताओंके रूपमें प्रदर्शित किया जाता है। यह प्रक्रिया सस्ती है और कभी कभी प्रभावशाली प्रमाणित होती है, किन्तु फिर भी यह साम्राज्यवादी व्यवस्थामें परिव्याप्त संकट (भारी अनुपातिक अंतरका संकट) का समाधान नहीं कर पाती।

पूर्वकालीन औपनिवेशिक लोकके वासियोंको स्वतंत्रता, प्रजातंत्र और प्रगतिके भावनात्मक रूपोंमें कोई आकर्षण नहीं है। उन्हें अन्न, रोजगार चाहिये और चाहिये उन्हें सुरक्षा। साम्राज्यवाद सहायता प्रस्तुत करता है, किन्तु ऐसी सहायता

नहीं जिससे पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थामें परिवर्तन हो सके, भारी उद्योग स्थापित हों अथवा इन क्षेत्रोंको स्वावलम्बी बननेमें सहायता मिले।

इसके बदलेमें जो वस्तु प्रस्तुत की जाती है वह है सैनिक सहायता, जो सहायता नहीं, बल्कि पूर्व अप्रर्याप्त साधनोंके ऊपर भारस्वरूप है। युद्धक विमानों और टेंकोंको निर्मूल्य लेना भले ही आकर्षक प्रतीत हो, किन्तु उनकी देखभाल कौन करेगा? इस कार्यमें भारी व्यय होता है और पूर्वकालीन औपनिवेशिक संसारके किसी भी देशके पास इतने साधन नहीं हैं कि इस दी जानेवाली सहायताकी परेड़ भी कर सके।

स्वभावत साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका वासियोंकी अपेक्षित सहायता प्रस्तुत करना असंभव समझता है। ऐसी सहायताके द्वारा पश्चिमके हाथसे उसके एकाधिकारी बाजार निकल जायँगें और फिर ऐसा कौनसा क्षेत्र बचेगा, जिसका उद्दोहन हो सके। फिर साम्राज्यवाद किसके ऊपर धनी और शक्तिपूर्ण बन सकेगा?

इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादसे प्राप्त होनेवाली सहायता निजी क्षेत्रोंसे अर्थात् एकाधिपतियोंके संगठनोंसे आती है। वे ऋण स्वरूप ऐसा धन देते हैं, जिससे उनका सामान, यंत्र और उनकी जानकारी विक्रय की जा सके। और वे विनियोजनकी सुरक्षा, लाभकारी व्याजकी दर तथा अधिकतर पक्षपातपूर्ण व्यवहारकी अपेक्षा करते हैं। ध्यानसे देखने पर यही मालूम पड़ता है कि इन शर्तोंका अर्थ राष्ट्रीय सार्वभौमिकताका उत्सर्ग है, जिसे सहनेके लिये नवस्वतंत्र जनता तैयार नहीं है।

यह परिस्थिति ऐसे समय विद्यमान है जब कि समाजवादी संसार, विशेष तौर पर सोवियतसंघ पिछड़े देशों द्वारा अपेक्षित राष्ट्र निर्मात्री सहायता देनेकी स्थितिमें है। यह ऐसी सहायता है जो बिना किसी उपबंधके पारस्परिक लाभकी शतापर प्राप्त हो जाती है। पुनः यह ऐसी सहायता है जिसकी तब तक सैंकड़ों गुना बढ़नेकी आशा है। जब तक कि युद्ध नहीं होता और अंतर्राष्ट्रीय सम्बंध सहअस्तित्वके पाँच सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं।

साम्राज्यवादके लिये यह सम्भावना अत्यंत भयावह है। यदि पंचशीलका आधिपत्य रहा तथा समाजवादी संसारकी वर्तमान गतिसे प्रगति होती रही, तो वह निकट

भविष्यमें ही पिछड़े क्षेत्रोंकी आथक उन्नतिके लिये अपेक्षित साधनोंको प्रस्तुत करानेमें समर्थ हो सकेगा। क्या साम्राज्यवाद आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रमें होनेवाले इस संघर्षसे बचकर जीवित रह सकता है ?

संयुक्त राज्यका परराष्ट्र विभाग इसका उत्तर ढूंढ़नेमें प्रयत्नशील है। जनवरी १९५६ में डलेसने अपने देशके राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि-मंडल द्वारा उनके सामने प्रस्तुत किये हुए एक वक्तव्यको प्रकाशित किया था। उसमें कुछ स्पष्ट बातें कही गईं थीं। उसमें लिखा था कि "वर्तमानकाल किसी दिन इतिहासमें साम्यवाद और स्वतंत्रताके मध्य होनेवाले संघर्षके महत्वपूर्ण परिवर्तन बिंदुके रूपमें मान्यता प्राप्त कर सकेगा। यह स्पष्ट रूपसे शीतयुद्धकी नीतिमें परिवर्तन प्रतीत होता है, जिसके अंदर आर्थिक और सामाजिक समस्यायें सम्मुख आ गई हैं... इन नई परिस्थितियोंने सोवियत रणकौशलका प्रभाव देखा है... हम यह जानते थे कि सोवियत संघ संसारके दूसरे भागोंमें सैनिक तथा राजनैतिक अवरोधोंको प्रस्तुत करनेकी आड़ हेतु आर्थिक और सामाजिक साधनोंका प्रयोग कर रहा है। इसके उदाहरण भारत, मिश्र और बर्मामें देखे जा सकते हैं।......हम अर्धविकसित देशोंकी आर्थिक उन्नतिके क्षत्रमें प्रतियोगता कर रहे हैं, क्योंकि यह क्षेत्र प्रतियोगता पूर्ण हैं। इस संघर्षमें हार उतनी ही भयंकर हो सकती है जितनी शस्त्रीकरणकी दौड़में हार।"

यह उन लोगोंकी स्वीकारोक्ति है जिन्होंने ५०० खरब डालर मूल्यकी विदेशी सहायता जुलाई १९४५ से जून १९५५ तक अपनी नीतिको प्रतिष्ठित करनेके लिये व्यय की है और फिर भी अब यह सोचते हैं कि कहीं हार न जायँ। अजीब होते हुए भी यह बात सच है। इसकी व्याख्या इस तथ्यमें विद्यमान है कि युद्धोत्तरकालीन सहायता और ऋणका लगभग एकतिहाई भाग आर्थिकके स्थानपर सैनिक था तथा असैनिक सहायता और ऋणका लगभग ३।५ भाग पश्चिमी यूरुप और जापानके के विकसित देशोंको भेजा गया है।

अनुमान किया जाता है कि पिछड़े क्षेत्रोंको दी जानेवाली वास्तविक सहायता लगभग १० खरब डालर वार्षिक है तथा सोवियत संघ इस राशिकी प्रतियोगता बड़ी सरलतासे कर सकता है।

जहाँ तक प्रविधिक सहायताका प्रश्न है, सोवियत संघकी स्थिति अधिक सुविधा-जनक है, १९५२ में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य दोनोंमें ३०,००० इंजीनियर स्नातक बने थे। किन्तु १९५५ में संयुक्त राज्यमें २३,००० स्नातक बने जब कि सोवियत संघमें बननेवाले स्नातकोंकी संख्या ६५,००० हो गई।

शिक्षाके ढंगमें अंतरका ज्ञान जिससे यह बात संभव हो सकी, संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा लिये जानेवाल एक अन्य सर्वेक्षणमें हुआ। इससे यह मालूम पड़ा कि जून १९५५ में माध्यमिक स्कूलों द्वारा स्नातक बनाये जानेवाले दस लाख सोवियत विद्यार्थियोंमें से प्रत्येकने ५ वर्ष भौतिकशास्त्र, १ वर्ष नक्षत्रशास्त्र, ४ वर्ष रसायनशास्त्र, ५ वर्ष जीवविज्ञान, १० वर्ष रेखागणित, बीजगणित और त्रिकोणमित्र सहित गणितका अध्ययन किया था, जब कि "इस संख्याके लगभग एक तिहाईसे भी कम अमेरिकन उच्च शालाओंसे निकलनेवाले स्नातकोंने अधिक से अधिक १ वर्ष रसायनशास्त्र पढ़ा था!" यह आंकड़े इस बातके सूचक हैं कि आनेवाले वर्षोंमें जब पिछड़े क्षेत्र अपनी सहायताके लिये प्रविधिकोंकी खोज करते हों, तब क्या आशा की जा सकती है।

संयुक्त राज्य अमेरिकाने अब इस बातका अनुभव करना आरम्भ कर दिया है कि एशिया और अफ्रीकामें की जानेवाली सोवियत सहायताकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस बातका पता सोवियत संघकी चालू छठीं पंचवर्षीय योजना पर होनेवाली अलोचनाओंसे लगता है। १९ जनवरी, १९५६ को प्रभावशाली पत्र "न्यूयार्क टाइम्स'में" मास्कोसे चेलेंज शीर्षकके महत्वपूर्ण संपादकीय लेखमें यह व्यक्त किया गया था कि आर्थिक प्रतियोगता अब अर्धविकसित देशोंको दी जानेवाली सहायताके प्रश्न से भी आगे बढ़ गई है—

"अपनी छठी पंचवर्षीय योजनामें...मास्को यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न करता है कि उसकी सर्वाहारी आर्थिक व्यवस्था स्वतंत्र अर्थव्यवस्थाको उत्पन्न कर सकती है। नयी योजना यह प्रदर्शित करनेका प्रयत्न करती है कि "ऐतिहासिक समयके न्यूनतम भागमें शांतिपूर्ण आर्थिक प्रतियोगता करते समय सोवियतसंघ अनेक विकसित पूँजीवादी देशोंमें विशेष तौरपर संयुक्त राज्यमें होनेवाले प्रतिव्यक्ति

उत्पादनसे आगे बढ़ जाना चाहता है। संसार भरके अविकसित देशोंमें बसने वाले करोड़ों व्यक्तियोंके सामने मास्को यह प्रदर्शित करना चाहता है कि उसकी व्यवस्था न्यूनतम समयमें समृद्धिशाली भविष्य निर्माण कर डालनेका विश्वास दिला सकती है।...सोवियत ललकारको समझनेके उपरांत हमारे आर्थिक जीवनके प्रतिनिधियोंको यह जानना चाहिये कि यहाँ पर स्वगृहमें निरंतर होनेवाली तीव्र प्रगति ही इसका एकमात्र उत्तर है।"

पूँजीवादका स्वर भय और घबराहटके कारण निश्चित रूपसे कांपने लगा है, क्योंकि सैनिक उद्योगों पर आधारित साम्राज्यवादी देशोंकी अर्थव्यवस्थाके लिये शांतिका अर्थ खतरा है। उनकी अभिवृद्धि अवास्तविक है, क्योंकि यदि उन्हें भोजन स्वरूप युद्ध नहीं मिलते तो उनको मिटना पड़ेगा।

इस नाशकी सीमांत रेखाओंको युद्धके घावों, और घूंसे पर विश्वास करनेवाली कूटनीतिके संचालनसे धूमिल बनानेका प्रयत्न हो रहा है। किन्तु वाशिंगटनके रणनीतिज्ञ पंचशील युगके एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलूकी ओरसे बेखबर हैं, जिसका सुदृढ़ आधार इस तथ्यमें निहित है कि सैनिक टेकनीककी नवीनतम प्रगतिके कारण संयुक्त राष्ट्रके युद्धास्त्र उद्योग ही निरर्थक हो जायँगे, जिनपर उसकी समृद्धिका निर्माण हुआ है।

इस विषयसे सम्बंधित कुछ आधुनिक प्रतिवेदनों पर विचार कीजिये, संयुक्त राज्यके कुछ प्रसिद्ध फौजी आलोचकोंको यह विश्वास हो गया है कि समाजवादी देशोंके सैनिकव्ययमें भारी कमीकी घोषणाका कारण आणविक युगमें किया जानेवाला सेनाओंके गठनमें परिवर्तन है। वे हमें बतलाते हैं कि सोवियत संघ एवं उसके साथियों ने ऐसे नये हथियार तैयार कर डाले हैं, जिन्हें इतनी विशाल वाहिनीकी आवश्यकता नहीं है। 'प्रक्षेपास्त्र युद्ध' शब्द इस नई रणनीति एवं उसके ढंगोंकी व्याख्याके लिये प्रयुक्त किया जाता है।

सोवियत संघने इस बातकी यद्यपि सरकारी पुष्टि नहीं की है, किन्तु ब्रिटेनमें होनेवाली सौमनस्य यात्राके दरम्यान खुश्चेवकी तत्‌विषयक उक्ति महत्वपूर्ण हैं। ब्रिटिश समुद्री बेड़ेके प्रवरतम नाविक अफसरोंको सम्बोधित करते हुए

उन्होंने कहा था कि उनकी सरकार आधुनिकतम क्रूजर बेचनेके लिये तैयार है, क्योंकि अब उनकी स्थिति यात्री वाहक पोतोंके बराबर रह गई है।

यह तर्कसम्मत बात है कि आणविक शक्ति युद्ध सम्बंधी रूढ़िग्रस्त विचारोंको अस्तव्यस्त कर डालेगी, किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि समाजवादी सेनाओंसे निकाले जानेवाले लाखों सैनिक बेकारोंकी संख्या नहीं बढ़ायेंगे, वरन उत्पादक कार्योंमें अपना स्थान ग्रहण करके समाजवादी संसारको एशिया और अफ्रिकाकी सहायताके लिये अधिक नई शक्ति प्रदान करेंगे। इस परिवर्तनको समाजवादी व्यवस्थामें बहुत अधिक प्रयोगमें आनेवाली स्वचालन सरीखी नवीन औद्योगिक टेकनिकोंसे सम्बधित करनेपर हम यह पाते हैं कि अर्धविकसित क्षेत्रोंको सहायता देनेकी सम्भावना कितनी अधिक है।

ऐसी सहायता देना सोवियत नीतिका मूलमंत्र है, जिसे प्रोलेटेरियन अंतर्राष्ट्रीय वादकी संज्ञा दी जाती है। लेनिनने समझाया भी था कि असली अंतर्राष्ट्रीयवादमें राष्ट्रोंकी समानताकी औपचारिक स्वीकृतिसे भी कुछ अधिक की आवश्यकता है। समानताके सिद्धांतमें शक्तिपूर्ण राष्ट्रों द्वारा शक्तिहीन राष्ट्रोंकी आर्थिक और सांस्कृतिक विकासके लिये प्रभावशाली सहायता भी सन्निहित है। आजकल समाजवादी दुनियामें इसी धारणाको अधिक प्रचारित किया जा रहा है। वहाँके जनसमाजसे यह कहा जाता है कि एशिया और अफ्रीकाकी सहायता करना उनका कर्तव्य है। यह ऐसा दृष्टिकोण है जिसे समझनेकी आशा पूँजीवादी संसार कभी नहीं कर सकता।

निष्कर्ष रूपमें पंचशीलका अर्थ यह है कि ख्रुश्चेवका 'मित्रताकी प्रतियोगता' का नारा अब अंतर्राष्ट्रीय कार्यसूची पर पहुँच गया है। इस प्रतियोगताके दो ढंग है—सोवियत ढंग और अमेरिकन ढंग। एशिया और अफ्रिकामें सोवियत ढंगकेही समर्थन और पक्षपात प्राप्त करनेकी आशा की जा सकती है।

इसका कारण ढूँढ़ने के लिये अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा। सोवियत का राष्ट्र हित शांतिमें, विश्वको परस्पर विरोधी शिविरोंमें विभाजित न होनेकी बातपर जोर डालनेमें तथा इतिहास द्वारा यह निर्णीत करने में निहित है कि कौन-सी व्यवस्था अन्यपर विजयी होती है। पूंजीवादी संसारके लिये हितों के ऐसे संयुक्तीकरणको रोकना लगभग असम्भव होगा।

यह बात उस समय अपेक्षाकृत अधिक सम्भव है जब पंचशीलका वातावरण पूँजीवादी संसारको पंगुकारी मंदीकी संभावनासे संत्रस्त कर रहा हो। निजी उद्योगोंवाली अर्थव्यवस्थाके लिये उत्पादनकी अभिवृद्धि और मंदीके अनुभव नये नहीं हैं। और आजकल पूंजीवादी देश प्रमुखतया डालर भूमिमें घटनेवाली घटनाओं पर आश्रित हैं।

सभी लोग इस बातसे सहमत हैं कि यह अभिवृद्धि सदैव नहीं रह सकती। आयुधोंकी दौड़को रोकना ही पड़ेगा। इसमें आत्मनाशके बीज विद्यमान हैं। संयुक्त राज्यके सरकारी सूत्र भी 'सतर्कता' और निराशावादके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अवसादी (मंदी) प्रवृत्तियोंकी बात कहते हैं और जनताको बड़ी सरलतासे स्मरण दिलाते हैं कि "उत्पादन और क्रयमें समय-समय पर असंतुलन होना निश्चित है।"

दूसरे शब्दोंमें सहसा वृद्धिकी कसर मंदी द्वारा पूरी हो जाती है।

जब यह बात मान ली गई है कि संयुक्तराज्य अमेरिकामें अभिवृद्धि उपस्थित करनेवाले चार कारण अर्थात् सैनिक व्यय, गृहनिर्माण, भारी उद्योगोंके यंत्रोंका परिवर्तन तथा मोटरों और गेजेटोंका बिक्री हेतु उत्पादन, अपना चरम बिंदु पारकर चुके हैं। कृषि, नौकानयन, नौकानिर्माण तथा अन्य पुराने उद्योगोंमें पहलेसे ही अवसन्नता आ गई है। यदि युद्ध नहीं होता तो यह पूर्व विकसित पूर्ण अभिवृद्धि कैसे जारी रह सकती है?

पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाके हिमवत् तर्कोंको बदलनेके लिये संयुक्त राज्यकी स्वराष्ट्रीय और परराष्ट्रीय नीतिमें महत्वपूर्ण परिवर्तनोंको करनेकी आवश्यकता पड़ेगी। इन दिनों कोई वास्तविक शक्ति इस लक्ष्य प्राप्तिकी ओर उन्मुख नहीं प्रतीत होती। रिपब्लिकन पार्टीकी पराजय और डेमोक्रेटिक पार्टी द्वारा शक्तिग्रहणके कारण आक्रामक रूपमें भले ही कमी आ जाय, किन्तु रूजवेल्टीय मार्गको अवरोधहीन नहीं किया जा सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके निवासी जिस जंगलमें फँस रहे हैं, उसमेंसे निकलनेका मार्ग केवल इसी नीति द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

पंचशील क्यों ?

आज कल आणविक और प्रक्षेपक शस्त्रोंकी भीषण वास्तविकता समस्त राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय नीतियोंपर अपना भारी प्रभाव डाल रही है। किसी आंदोलनको चलानेका प्रयत्न करना अथवा इन नई शक्तियोंके पूर्ण महत्वको समझे बिना परिस्थितिका विवेचन करना निरर्थक ही कहा जा सकता है।

वस्तुतः अब तक आदर्श समझे जानेवाले मूल्यों और धारणाओं पर आणविक युगका पूर्ण प्रभाव समझनेमें अभी कुछ समय लगेगा। यह वह युग है जिसमें पहली बार मनुष्यके सामने जीवनकी परिस्थितियोंको पूर्णतया बदलने या विज्ञान और सभ्यता द्वारा शताब्दियोंमें क्रमिक रूपसे निर्मित सभी वस्तुओंकी पूर्णतया नष्ट करनेका विकल्प रखा गया है।

विज्ञान अंतमें उस बिंदु पर पहुँच गया है जहाँ वह ऐतिहासिक प्रक्रियाका रूप निर्धारित करनेके लिये तैयार है और उन प्रक्रियाओंके प्रेरक सामाजिक संगठनोंको करीब करीब नियंत्रित करेगा। इसे समझनेके लिये हमें दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है।

आणविक शक्ति उपयोगके तत्कालीन प्रश्नको ही ले लीजिये। उपयोगका ढंग कुछ कठिन नहीं है। विज्ञानने इस समस्याका उत्तर पहलेसे ही खोज लिया है और जो उत्तर अब भी अस्पष्ट हैं, वे यथासमय स्पष्ट हो जायँगे। प्राविधिकोंको अब यह प्रश्न संत्रस्त कर रहा है कि आणविक शक्ति निर्माणके पश्चात बचनेवाले रेडियो सक्रिय वर्ज्य पदार्थ का निर्वर्तन किस प्रकार किया जाय।

यह वर्ज्य पदार्थ लगभग २०० वर्ष तक रेडियो सक्रिय रहता है। उसके निर्वर्तनके अनेक मार्ग सुझाये गये हैं। कुछ लोग विशेष डब्बोंमें रखकर समुद्रके अधिकतम गहरे भागोंमें इसे डुबोनेका इस आशासे विचार कर रहे हैं कि वे डब्बे शायद वर्ज्यपदार्थके रेडियोसक्रिय रहने तक न गल सकें। अन्य लोग ऐसे डिब्बोंमें दूरस्थ शून्यके अन्दर आग लगानेकी बात सुझाते हैं।

उसके निर्वर्तनकी कैसी भी योजना बनाई जाय, किन्तु एक विशेष निष्कर्ष निकाला जा सकता है। किसी निजी संगठनको आणविक शक्ति बनाने या उसे व्यवहृत करनेका कार्य नहीं सौंपा जा सकता, क्योंकि वे उसका लागत

मूल्य घटाने और समस्त संसारमें जीवनको खतरा उपस्थित करनेवाली रेडियो सक्रिय वर्ज्यवस्तुके निर्वर्तनके लिये आवश्यक अत्यंत खर्चीली व्यवस्थासे लाभ प्राप्त करनेका प्रयत्न करेंगे।

उन्मुक्त व्यवसायका "लाभ" सदैव मुख्य प्रेरक रहा है और आणविक शक्ति लाभ उठानेके लिये प्रयुक्त की जानेवाली वस्तु नहीं है। इस कारण राज्यको विवश होकर प्रत्येक क्षेत्रमें आणविक प्रगतिका नेतृत्व करने और उसे स्वयं नियंत्रित करनेके लिये विवश होना पड़ेगा, यह ऐसी कार्यवाही है जो स्वाभाविक रूपसे पूँजीवादको रोकेगी और फलस्वरूप समाजके ढाँचेको प्रभावित करेगी।

हमारे जीवनकी प्रत्येक छोटी-सी छोटी बातके प्रभावित करनेवाली समस्याका यह केवल एक ही पहलू है। यदि पंचशील द्वारा युद्ध अवैध घोषित हो गया तो संसारकी शांतिपूर्ण प्रगतिमें तीव्रताके लानेके लिये अधिकाधिक आणविक शक्ति प्रयोगमें लाई जा सकेगी और उसके उपयोगपर होनेवाला आवश्यक नियंत्रण अधिकाधिक क्षेत्रोंको यह विश्वास दिलाता जायगा कि व्यक्तिगत लाभ कमानेके बहुत बड़े स्वार्थी मार्गको अपनानेवाला पूँजीवाद अब सामयिक नहीं रह गया है।

ऐसी सुदृढ़ नीवोंपर निर्मित आत्मविश्वाससे ही संसार युद्ध द्वारा अप्रभावित जीवनकी सम्भावनाकी कल्पना कर सकता है। फिर भी यह बहाना करना कि शांति हमने पा ली है, निरर्थक है। एक गलत प्रयत्न, एक विवेकहीन कार्य हमें पुनः युद्धकी कगार पर ढकेल सकता है। आजकल सतर्क रहनेकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

शत्रुता और कटुता उत्पन्न करनेके लिये खुले और अविकसित तरीकोंको काममें लानेकी अब बहुत कम आशा है। अधिक सूक्ष्म और गुप्त रणनीतियाँ खोजकर निकाली जायँगी। इन तरीकोंसे हर स्थानपर दीखनेवाली शांतिकी विकासशील और एकीकृत भावनाओंमें अस्तव्यस्तता और उलझन पैदा करनेका प्रयत्न किया जायगा। वास्तवमें हम ऐसे समयमें प्रविष्ट हो रहे हैं, जिसे कूटनीतिक सम्बन्धोंका सर्वाधिक नाज़ुक अवसर कहा जा सकता है।

एक ओर पूँजीवादी समाज है और दूसरी ओर समाजवाद। लाखों व्यक्तियोंने चुनाव कर लिया है और लाखों व्यक्तियोंको अभी यह करना शेष है। किन्तु

पंचशील क्यों ?

मानवजातिके भारी बहुमतकी यह इच्छा है कि यह चुनाव शांतिके वातावरणमें करना चाहिये, जहाँ एक व्यवस्था दूसरीकी प्रतियोगता कर सके, जहाँ किसी अन्य प्रकारकी 'विवशता' के स्थानपर पूँजीवादी और समाजवादी प्रयत्नोंके परिणाम ही अपना अपना पक्ष समर्थन करेंगे।

साम्राज्यवादी शक्तियाँ सम्भवतया इस डरके कारण पंचशील पर हस्ताक्षर न करेंगी कि कहीं उस अवस्थामें उन्हें अपने उपनिवेशोंको खाली करना न पड़ जाय और दूसरे भूभागोंमें स्थित युद्धस्थलोंको छोड़कर आणविक और प्रक्षेपक शक्तिके असीमित साधनोंपर निर्मित शांतिके स्वस्थ तर्कोंका सामना न करना पड़े किन्तु वे कुछ भी करें, उन्हें यह ज्ञात है कि स्वयं उनके साथी इन दुःसाहसिक क्रियाकलापोंसे डर गये हैं और उन्हें भी शांतिकी आवश्यकता है।

यह ऐसी भावना है जो विभाजक रोकोंको तोड़ कर इस नक्षत्र पर स्थित लोगोंको एकताके सूत्रमें बाँधती हुई निरंतर बढ़ती रहेगी।

राजनैतिक शतरंज

मुझे असत्यसे सत्यकी ओर ले चलिये,
मुझे अंधकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये,
मुझे मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले चलिये।

—उपनिषद्

स्वतंत्रताके १० वें वर्षमें प्रवेश करते समय भारत अपनी आंतरिक नीतियों और विदेशी सम्बंधोंमें होनेवाले अनेक परिवर्तनोंके दर्शन कर सकता है। उसकी स्थिति इतनी सरलतासे और लगभग अव्यक्त रूपसे संशोधित और परिवर्तित हुई है कि वर्तमान समस्याओंका अध्ययन करनेवाले अनेक योग्य विद्यार्थी भी उसके कारणोंका अच्छी तरह पता लगा न सके या समझनेमें असफल रहे हैं। अनेकों बार उन्होंने अपने अनुमानोंको स्वीकृत तथ्योंके पूर्णतया विपरीत पाया है।

फिर भी भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस और जवाहरलाल नेहरूकी स्थिति समझना अत्यंत आवश्यक है। गड़बड़ इतनी अधिक फैली हुई है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर किसी कार्यको आरंभके लिये एक मात्र नेहरूका ही आसरा देखना पड़ता है। उन्होंने कॉंग्रेसकी वर्तमान विचारधाराको सबसे अधिक प्रभावित किया है और ऐसा करनेमें अपने देशवासियोंकी स्वस्थतम भावनाओंका प्रतिनिधित्व किया है।

राजनैतिक संघर्षमें उन्होंने अपने विरोधीसे भी अधिक नीतिज्ञताका परिचय देकर उनकी प्रतिद्वंदितापूर्ण प्रशंसा प्राप्त की है।

विश्व-समस्याओंके वर्तमान प्रमुख तत्व 'पंचशील' के प्रतिपादक और सह-निर्धारक तथा पिछड़े गरीबीसे संत्रस्त प्रदेशकी प्रेरक आत्माके रूपमें आजकल वे अपने ढंगके समाजवादका प्रचार करते हैं, जिसके बारेमें उनका दावा है कि वह भारतका रूप ही परिवर्तित कर देगा।

पूर्व अध्यायोंमें हमने कॉंग्रेसकी नीतिके क्रमिक विकासका तथा किस प्रकार विदेशी और घरेलू शक्तियों द्वारा उसका रूप निर्धारित हुआ, इन बातोंका अच्छी तरह सर्वेक्षण

किया है। अब उन तत्वोंमें पारस्परिक सम्बंध स्थापित करना आवश्यक है। इसके अभावमें सम्भावित प्रगति विषयक भविष्यवाणी करना या भारतको आगे बढ़ानेवाली आवश्यकताओंके लिये सार्वजनिक समर्थन प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकेगा।

यह स्पष्ट है कि वर्तमान युगमें कोई अकेला व्यक्ति इतिहासका निर्माण नहीं कर सकता। जो व्यक्ति परिस्थितिको तत्काल समझ सकते हैं और जिन्हें बहुसंख्यक जनताका समर्थन प्राप्त है, वे ऐतिहासिक प्रक्रियाको अच्छाई या बुराईकी तरफ किसी अंश तक ही प्रभावित कर सकते हैं। स्वहितरत संघर्षशील वर्ग ही, जो कभी समझौता करता है और कभी दुराग्रह करता है, प्रगतिका रूप निर्धारित कर सकता है। वे योग्य व्यक्तिको भी अपने पंजेमें लेनेका प्रयत्न करते हैं। इसी पृष्ठभूमिके आधारपर नेहरू और उनके द्वारा नेतृत्व प्राप्त पार्टीको समझना आवश्यक है।

आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस जीवित तत्व पर अर्थात् भारतीय समाजमें वर्गोंकी स्थितिके विवेचन पर, कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भूतकालमें नीतिज्ञतापूर्ण सीमित प्रयत्नोंके स्पष्टीकरणहेतु सामान्य यंत्रवत् सूत्रोंका प्रयोग किया गया है जो तत्विषयक वाह्य कल्पना है। भारतवासियोंको भी कभी इस बातकी शिक्षा नहीं दी गई कि प्रत्येक वर्गकी क्या विशिष्ट स्थिति है, उन्हें किन संघर्षोंका सामना करना पड़ता है और उन आक्रांता संघर्षोंको निष्क्रिय बनानेकी उनमें कितनी क्षमता है। जब तक यह नहीं होता, भारतकी विदेशी नीतिके परिवर्तनोंको अथवा देशकी आंतरिक आर्थिक प्रगतिको अच्छी तरह समझना असंभव है। इस दिशामें अग्रसर होनेसे पहले यह आवश्यक है कि १९४७ में सत्ता हस्तांतरण कालसे अब तककी घटनाओंका सर्वेक्षण करनेके पश्चात् जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं उन पर संक्षिप्त विचार कर लिया जाय।

सत्ता हस्तांतरण तक राष्ट्रीय आंदोलन एवं उसके विस्तारकी प्रमुख एवं महत्वपूर्ण बात यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादसे होनेवाले इस संघर्षका नेतृत्व सामूहिक रूपसे पूँजीजीवियोंके हाथमें था। समस्त औपनिवेशिक पूँजीजीवियोंमें यही लोग सर्वाधिक विकसित थे और उन्होंने जनताको अपने साथ लेकर अंतमें सत्ता प्राप्त कर ली।

इस कारण यह बात आशानुकूल ही थी कि १९४६–४७ में आजाद हिंद फौज और रायल भारतीय नौसेनाके अभूतपूर्व स्वदेशाभिमानी प्रदर्शनके परिणाम-

स्वरूप शीर्षस्थ बिन्दुपर पहुँचनेवाले विद्रोहको देखकर भारतीय पूँजीजीवी और ब्रिटिश साम्राज्यवादी दोनों भयभीत हो गये। उन दोनोंके हित वैधानिक सत्ता हस्तांतरणमें संयुक्त थे।

यदि जनताका नेतृत्व साम्यवादी पार्टी अर्थात् किसानों-मजदूरोंके हाथमें संयुक्त रूपसे रहा होता, तो एक पूर्णतया भिन्न और उन्मूलक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते। तथापि मजदूर और किसान देशके विभाजनका अवरोध करनेकी परिस्थितिमें नहीं थे। वे उसके असहाय साक्षी और शिकार बने हुए थे।

इस संकटकालमें तथा इससे पहले भी राजामहाराजाओं और तालुकेदारोंका वर्ग व्यक्तरूपसें साम्राज्यवादके प्रति अपनी मित्रता प्रदर्शित कर रहा था। सांप्रदायिक दंगोंके अवसर पर यह वर्ग सक्रिय रूपसे इस सीमा तक मौनानुकूलता दिखलाने लगा कि उसकी स्थिति अधिक उत्तेजक स्वरूप हो गई। नये पूँजीजीवी शासकोंको स्थान भ्रष्ट करनेके बहाने उनके लिये ऐसा करना सम्भव हो सका। इस वर्गका इन सांप्रदायिक दंगोंमें दिया गया सहयोग पुनः सत्ता प्राप्त करनेका अंतिम प्रयत्न था।

यद्यपि यह सच है कि देश–विभाजनसे पूर्व पूँजीजीवियोंके एक महत्वपूर्ण भागने भी सामुदायिक संघर्षकी ज्वालाको प्रज्वलित करनेका प्रयत्न किया था, किन्तु एतदर्थ आयोजित दंगोंका उद्देश्य मुस्लिमलीगसे संघर्ष करते समय अस्थायी लाभ प्राप्त करनेका एक अस्त्र प्राप्त करना था। इसका प्रमाण यह है कि उन्हीं नेताओंने बादमें दंगोंकी धर्मनिरपेक्षता समाप्तिके लिये, प्रशंसनीय धर्मनिरपेक्षताको प्रतिष्ठित करनेके लिये तथा अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी गारंटीके लिये प्रशंसनीय कुशलतापूर्वक कार्य किया। फलस्वरूप सामंतवादी तत्व तथा उनके सार्वजनिक मित्र अर्थात् हिन्दू परिषद, संघ, महासभा आदि एक दूसरेसे पृथक हो गये। गांधीजीको इस संघर्षमें अपना स्वयंका बलिदान करना पड़ा।

पाकिस्तानका नक्शा पूर्ण भिन्न था। वहाँ पर सामंतवादी नेताओंने निर्बल पूँजीजीवी तत्वोंको अपने साथ लेकर प्रशासन पर अधिकार कर लिया। उन्होंने पाकिस्तानको काफिरोंसे पूर्णतया मुक्त करनेके लिये दंगोंको और लूटमारको प्रेरणा दी। इस कूटनीतिने 'जेहाद' के नामपर समस्त मुस्लिम जनताको अंधा

बनाकर संगठित कर दिया। साथ ही धनी हिन्दू विस्थापित निष्क्रमणके अवसरपर अनेकों लाख एकड़ उपजाऊ भूमि और बहुमूल्य जायदाद छोड़कर भागे, जिसका दांव लगाया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त काश्मीर, जूनागढ़ और हैदराबाद आदि रियासतोंके नरेशोंकी संदेहास्पद क्रीड़ा भी मनोरंजक थी। वे भारतीय प्रगतिका विरोध इस आशासे कर रहे थे कि जिससे वे अपनी विशिष्ट परिस्थिति द्वारा भारत और पाकिस्तानकी शत्रुताका लाभ उठा सकें। जब इन सामन्ती गढ़ोंपर भारतने अधिकार कर लिया, तब इन नरेशोंकी शक्ति पूर्णतया भंग हो गई।

सरदार पटेलने अपनी विलयन योजना द्वारा रियासती भारतकी शल्यक्रिया कर डाली। काँग्रेस पार्टीय दक्षिणी पार्श्वके अप्रतिहत नेताके रूपमें उन्होंने वैधानिकताके साथ देशी रजवाड़ोंको समाप्त करके "एक पंथ दो काज" कर लिये। प्रथमतः उन्होंने रजवाड़ोंके अंदर सार्वजनिक संघर्षकी सम्भावनाको समाप्त कर दिया। दूसरे उन्होंने क्षतिपूर्ति स्वरूप शासकोंको बड़ी भारी पेंशन (प्रिवी पर्स) दे दी, जो किसी न किसी दिन पूँजीजीवी व्यापारिक प्रतिष्ठानोंके कोषोंको भरने वाली थी।

राजनैतिक अधिकारोंसे वंचित होकर अनेक दक्ष नरशोंने वित्तीय गठबंधनोंका सहारा टटोला और अधिकतर भारतीय एवं विदेशी पूँजीको संयोजित करनेमें बीचके दलाल बननेमें सफल हुए। कुछ नरेश अब भी काँग्रेस प्रशासन विरोधी जनताके असंतोषका लाभ उठाकर उनका तख्ता पलट अपना राजनैतिक प्रभाव स्थापित करनेके स्वप्न देख रहे थे। पश्चिम और मध्यभारतमें डाके डलवाये गये। इन तर्कोंका चुनावके अवसरपर काँग्रेसके विरुद्ध प्रयोग करना था। इस तरह जनताको यह सुझाया गया कि ऐसी परिस्थितिमें उनके राजनैतिक सौभाग्योदय करवानेके लिये नरेशोंका ही विश्वास किया जा सकता है।

पूँजीजीवियोंकी शक्तिका अधिक सुदृढ़ीकरण उस समय हुआ, जब कि संपूर्ण भारतके लिये एक संविधान अपनाया गया, जिसमें एक अन्य सामतवादी आधार अर्थात् जमींनदारियोंको नष्ट करनेकी दिशामें कदम उठाये गये। पुनः क्षतिपूर्ति की गई। इस धन द्वारा जमींनदार भी पूँजीवादी कृषक बन गये और व्यवसायी संसारसे लाभकारी समझौते करने लगे।

इसके अलावा इन सुधारोंका वर्ग गाँववालोंके वर्ग-सम्बंधोंपर यह प्रभाव पड़ा कि ऐसे धनी किसानोंकी संख्या बढ़ गई, जो प्रतिवर्ष कुछ बचत कर सकते तथा साथ ही संपूर्ण कृषक समाजके कुछ बोझ किसी सीमा तक कम हो गये। पूँजीजीवियोंको अधिक ग्रामीण समर्थन प्राप्त करनेका सदैव इरादा रहता है, क्यों कि वे यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि भौमिक क्षुधाको अभी शांत करना शेष है।

गणतंत्रकी उद्घोषणाके पश्चात् पूँजीजीवी सामूहिक रूपसे पूर्ण राजनैतिक सत्ताका उपभोग कर रहे हैं, यद्यपि भारतमें लगी विदेशी पूँजीके साथ जो प्रमुखतया ब्रिटिश पूँजी है, आर्थिक सत्ताका हिस्सा बँटानेपर उन्हें विवश होना पड़ता है। इस परिस्थितिमें दो अंतर्विरोध होने रूढ़िसंगत हैं।

प्रथमतः सामूहिक रूपसे पूँजीजीवियोंमें और ब्रिटिश निहित स्वार्थोंमें स्पष्ट संघर्ष दीखता है। भारतीय व्यवसायको इन दिनों भी आंतरिक अर्थव्यवस्थाके महत्वपूर्ण खंडोंपर व्याप्त रहनेवाले ब्रिटिश व्यवसायके साथ प्रतियोगता करनी पड़ती है। जैसे जैसे विदेशी पूँजी यह प्रदर्शित करती है कि उनकी रुचि भारतसे अधिकसे अधिक धन खींचनेमें है और देशके वास्तविक विकासमें सहायता करनेके लिये तैयार नहीं है, वैसे ही वैसे यह तनाव बढ़ता है।

द्वितीय, इसी अंतर्विरोध पर एक अन्य अंतर्विरोध आधारित है। वह है, प्रत्येक "व्यावसायिक पैसे" में दखल रखनेवाले अखिल भारतीय बड़े पूँजीजीवियों और अपने भाषिक क्षेत्रोंमें जमे बहुसंख्यक मध्यम पूँजीजीवियोंके लक्ष्योंमें संघर्ष। क्योंकि यह लोग टाटा–बिड़ला आदि बाहरी लोगोंकी अनधिकृत दस्तंदाजीसे प्रसन्न नहीं हैं और स्वयं अपने लिये लाभके एकांगी क्षेत्रका निर्माण करना चाहते हैं। वे उस स्थितिकी प्राप्तिके लिये संघर्षरत हैं, जिस पर आजकल अखिल भारतीय बड़े पूँजीजीवियों और उनके विदेशी सहयोगियोंका एकाधिकार है।

और साम्राज्यवादके निःस्वार्थ सहायतार्थ अप्रस्तुत होने पर जब प्रशासनको आर्थिक विकास कार्योंका नेतृत्व करने पर निवश होना पड़ता है, तब यह क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवी, किसी विशेष क्षेत्रमें न आनेवाले टाटा–बिड़लाओंसे संघर्ष करनेके लिये प्रारम्भिक कदम स्वरूप इस देशकी भाषिक पुनर्रचनाकी माँग

का सक्रिय समर्थन करने लगते हैं। आर्थिक विकास हेतु एक सार्वजनिक क्षेत्र घोषित किया जाता है, क्योंकि वह बड़े एकाधिपतियोंकी शक्तिपर आक्रमण करता है तथा अपने अपने क्षेत्रको विकसित करनेके लिये दृढ़ प्रतिज्ञ मध्यम उद्यमियोंके प्रयत्नमें उन्हें सहायता देनेका विश्वास दिलाता है। यह बड़ी अच्छी लाभदायक राजनीति है।

इतना लेखा जोखा पर्याप्त है। अब इस आंतरिक संघर्षमें निहित भारतीय पूँजीजीवियोंकी समस्याओंपर भी विचार करना चाहिये। भारतीय प्रगतिका यह अभूतपूर्व अंग है।

इन दोनों वर्गोंके सही लक्षणोंको ध्यानमें रखना चाहिये। अखिल भारतीय बड़े पूँजीजीवी जो किसी विशेष क्षेत्रमें सीमित न हों, उनकी कार्यवाहियाँ समस्त देशमें फैली रहती हैं। वे ऐसे क्षेत्रोंमें भी दखल देते हैं जो सामान्यतया बहुत महत्वहीन प्रतीत होंगे। इसके अतिरिक्त वे अपने निजी बैंकोंका भी नियंत्रण करते हैं और अभी थोड़े दिनों पहले तक बीमा समवायोंको भी संचालित करते थे, जिसकी ४० प्रतिशत पूँजी उन्हें उपलब्ध रहती थी। इस वर्गका निर्माण प्रमुख रूपसे मारवाड़ी व्यापारिक प्रतिष्ठानों द्वारा हुआ है, किन्तु टाटा और बम्बईके गुजरातियों सरीखे कुछ अन्य लोग भी इसमें सम्मिलित हैं। इन दोनोंकी पूँजी भी ऐसे क्षेत्रोंमें लगी हुई है, जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। यह बड़े व्यवसायी विदेशी पूँजीसे संयुक्त हैं और विदेशी व्यवसायियोंके लाभकारी संपर्कोंका सदैव लाभ उठाया है। वे काँग्रेस पार्टीके शक्तिपूर्ण दक्षिणी पार्श्वके सदैव पृष्ठपोषक रहे हैं।

क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवी केवल अपने भाषिक क्षेत्रोंमें ही कार्यरत रहते हैं। अहमदाबादके समृद्धिशाली गुजराती रुई नियंत्रकोंके समान छोटेसे दलके अतिरिक्त इस समूहके पूँजीजीवियोंकी प्रगति बहुत सीमित रही है। सामान्यतया उन्हें शक्तिशाली मारवाड़ी फर्मोंकी संरक्षताका आसरा ताकना पड़ता है। वे भारतके मारवाड़ियोंको और बम्बई नगरके गुजराती और पारसियोंको देशके किसी विशेष क्षेत्रसे संयुक्त नहीं समझते।

जब इनके पास अपना कार्य करनेके लिये धन होता है, तब अहमदाबादके गुजरातियोंकी तरह तत्व भी स्वतंत्र रहते हैं। इनका भविष्य विदेशी स्वार्थोंके साथ समझौता करनेमें निहित नहीं है, क्योंकि वह शायद ही कभी उन्हें प्राप्त होता हो। उनका भविष्य तो इस उपमहाद्वीपके सम विकासमें तथा उनके निजी क्षेत्रोंके मौलिक उद्योगोंकी उन्नतिमें निहित है, जिससे वे इन पर अधिकार कर सकें और अन्य आर्थित उद्योगोंको विकसित कर सकें।

पूँजीजीवियोंके बड़े और मध्यम, दोनों वर्ग साम्राज्यवादसे बलपूर्वक प्राप्त की गई स्वतंत्रताकी रक्षाके लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हैं, क्योंकि अन्य कोई स्थिति अपनानेसे वह स्थिति उनके वर्ग हितोंके लिये संकट स्वरूप हो जायगी। दोनों इस बातसे सहमत हैं। विश्व पूँजीवादी विकासकी इस विलम्बित स्थितिमें राज्यकी सहायताके विना भारतके आर्थिक पुनर्निर्माणका कार्य वे सम्पन्न नहीं कर सकते।

और यहींपर कठिनाई है। एक ओर वड़े पूँजीजीवी समस्त देशके लिये एक शक्तिशाली केन्द्रीय प्रशासन चाहते हैं, जिससे उन्हें पैसा और आर्थिक प्रगतिकी सम्भावनाओंको हस्तगत करने तथा उसे उपबंधित करनेका अवसर मिल जाय। जब कि दूसरी ओर मध्यम पूँजीजीवी अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये भाषिक राज्यों और उनकी संयोजक कड़ीके रूपमें केन्द्रीय प्रशासन चाहते हैं, जिससे उनकी आवश्यकता पूरी हो सके। वे चाहते हैं कि राज्य स्वयं राष्ट्र निर्मात्री प्रायोजनाओंका प्रहस्तन करे, क्योंकि वड़े पूँजीजीवियोंकी शक्तिको सीमित रखकर प्रायोजनाओंको विभिन्न क्षेत्रोंमें आवंटित करनेकी उनकी गुहार सुनवानेका यही एक मात्र मार्ग है। इसका अर्थ अन्य उद्योगोंके विकास हेतु अधिक इस्पात, सीमेंट, कोयला और दूसरे मौलिक पदार्थ प्रस्तुत करना है।

यद्यपि कॉंग्रेस यंत्र पर दक्षिण पंथियोंका नियंत्रण कायम है, जो बड़े पूँजीजीवियोंका पक्ष समर्थन करते हैं और जो "विभाजक" प्रवृत्तियोंके विरुद्ध गारंटीस्वरूप एक शक्तिशाली एकात्मक राज्यकी कल्पना करते हैं, तथापि उन्मूलकवादी नेहरूके रूपमें क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवियोंको वड़े पूँजीजीवियों पर दवाव डालनेवाला एक आदर्श उत्तोलक प्राप्त हो गया है।

उनकी विशाल जनप्रियता, उनकी आश्चर्यजनक राजनैतिक दक्षता, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितिके परिवर्तनको पूरी तरह समझनेकी उनकी योग्यता तथा प्रजातांत्रिक भारतीय समाजवाद प्राप्त करनेके उनके विचार जो जानबूझकर अनुकूल अवसरों-पर अस्पष्ट रखे जाते हैं, उन्हें इन तत्वोंका पूर्ण प्रवक्ता बना देती है।

नेहरू इस वर्गके कोई सजीव उपकरण नहीं हैं, वरन एक ऐसे प्रतीकात्मक प्रभाव-शाली पुरुष हैं, जिनका आविर्भाव इतिहासमें समय-समयपर होता ही रहता है। अपने विचार और व्यवहारमें वह निश्चित रूपसे क्षेत्रीय हितोंसे आगे हैं। वे अधिक विस्तृत क्षेत्रीय विचारों और आकांक्षाओंको व्यक्त करते हैं, किन्तु वे क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवीके संघर्षके अत्यंत अनिवार्य अंग हैं।

इस बातसे दो प्रश्न पैदा होते हैं। प्रथम तो यह कि कॉंग्रेस यंत्रके प्रधान तत्व उन संघर्षोंका प्रतिनिधित्व क्यों नहीं करते, जहाँसे वह आते हैं? द्वितीय यह कि पूँजीजीवियोंके यह दोनों वर्ग स्वेच्छापूर्वक समाजवादके विचारोंका समर्थन कैसे करते हैं?

प्रथम प्रश्नको ले लीजिये। कुछ स्थानोंमें अनुत्तरदायी रूपसे कॉंग्रेसको गुजराती निहित स्वार्थोंके अधिकरण स्वरूप बतलानेकी प्रथा रही है। इससे एक भिन्न निष्कर्ष प्राप्त होता है अर्थात् यह कि बड़े पूँजीजीवी गुजराती हैं। वास्तविकता यह है कि कॉंग्रेस संगठन पर प्राथमिकरूपसे गंगाकी घाटीके राजनैतिक हित व्याप्त हैं। अर्थात् उत्तर प्रदेश और बिहार नामक उस विस्तृत हिन्दी-भाषी क्षेत्रको जिसने अनेकों शताब्दियोंमें इस उपमहाद्वीपको प्रभावित और नियंत्रित करनेका प्रयत्न किया है।

इस राजनैतिक विचारधारा वाले लोगोंके साथ गुजरात और तामिलनाड़ वाले भी संयुक्त हैं। क्षेत्रीय पूँजीजीवियोंमें यह वर्ग सर्वाधिक विकसित और आत्मनिर्भर हैं। यह लोग बड़ी झिझकके साथ ही भाषावादी भावनाओं का समर्थन करते हैं, क्योंकि उन्होंने केवल अपने क्षेत्रोंमें नहीं, वरन अन्य क्षेत्रोंमें भी शक्तिका आनन्द उठाया है। तामिलनाड़का आंध्र और केरलपर नियंत्रण था। गुजरात महाराष्ट्रको नियंत्रित कर रहा था। स्पष्टतया सीमाओंका पुनर्गठन उनके लिये इतनी आकर्षक वस्तु नहीं थी।

अब समाजवादी नारोंको सरलतापूर्वक अपनानेका दूसरा प्रश्न आता है। पिछले दस वर्षोंमें कॉंग्रेसने सहकारी सर्वतंत्र, कल्याणकारी राज्य, निश्चित अर्थव्यवस्था समाजवादी ढंग और आजकल समाजवादी समाज आदि अनेक राजनैतिक दृष्टि-कोण क्रमशः अपनाये हैं। किन्तु उसने सदैव यही कहा है कि इन सिद्धान्तोंका वह सामान्यसे कुछ भिन्न अर्थ ग्रहण करती है और आज-कल भी वह यही कह रही है। नेहरूके शब्दोंमें 'हम अपने निजी ढंगसे ही काम करना पसंद करते हैं।'

इस परिस्थितिकी वास्तविकता यह है कि विश्वके पूँजीवादी विकासको देखते हुए भारतीय पूँजीजीवीयोंने राजनैतिक शक्ति यथेष्ट विलम्बसे प्राप्त की है। इस कारण उन्हें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाको विकसित और नियंत्रित करनेके लिये किसी सीमा तक राज्यका सहभागी होना स्वीकार करना पड़ा। इस कार्यभागको स्वीकार करनेके विषयमें हमने बड़े और मध्यम दोनों वर्गोंके दृष्टिकोणके अंतरों पर विचार कर लिया है, किन्तु दोनों ही वर्ग समाजवादके अस्पष्ट सूत्रके अंदर राज्य पूँजीवादके केन्द्रीय तथ्यको सम्मिलित करनेके लिये तैयार थे। क्या अनेक पूँजीवादी देशोंने कुशल आर्थिक प्रशासन हेतु उद्योगोंके सार्वजनिक क्षेत्र स्थापित नहीं किये हैं?

भारतमें भी पहले यही सोचा गया था कि चूँकी ऐसे कदम लेने जरूरी हैं। इसलिए उन्हें राजनैतिक रूपमें अपनाना चाहिये। जनताको यह बतलाना चाहिये कि कॉंग्रेस समाजवादकी समर्थक है। ऐसा करनेसे वामपक्षियोंका दाँव उनके हाथमें आ जायगा?

जहाँ एक ओर यह हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर भारतीय समाजवादके अभूतपूर्व रूपको समझानेके लिये यथेष्ट प्रयत्न किये गये। उसे प्रजातांत्रिक बनाना था। उसे केवल उन्हीं क्षेत्रोंमें लागू करना था, जहाँ निजी प्रयत्न अपेक्षित कार्य पूरा न कर सकें। किसी भी वर्गके हितोंका बलिदान किये बिना ही उसे प्राप्त करना था। कट्टरता और सैद्धांतिकता नापसंद थी। ऐसे विचारोंने ही समाजवादको 'समाजवादी' बना दिया तथा अत्यंत आशाके विरुद्ध क्षेत्रोंसे भी समर्थन प्रदान करवा दिया।

यदि भारतीय जनताकी उन्मूलनवादी आवश्यकताओंको प्रतिभासित करना अनिवार्य न होता, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि समादवादी ढाँचेके विषयमें कभी चर्चा भी न होती। अवाड़ी समाजवादका स्वर क्या उसी समय ऊँचा नहीं उठाया गया था, जब काँग्रेसको आंध्रके चुनावोंमें हारकी सम्भावना दीखने लगी थी। एक बार इस नारेको उठानेके पश्चात् प्रत्यावर्तन लगभग असम्भव-सा ही प्रतीत होने लगा।

कम से कम पूँजीजीवी तो ऐसे प्रत्यावर्तनके लिये तैयार नहीं थे। समाजवादी बातचीतसे प्राप्त होनेवाला तीव्र राजनैतिक लाभंश, पर्याप्त क्षतिपूर्ति करते थे। जनमतका सामान्य उन्मूलनवादी रूप दीखने लगा था, किन्तु काँग्रेसको यह पूरा विश्वास था कि वह इस उन्मूलनवादिता पर अपनी पकड़ कायम रख सकती है।

जब अवाड़ी समाजवादिता द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकालमें अधिक तीव्रतर होने लगी, तब पूँजीजीवियोंके मध्य फूट पड़ना आरम्भ हो गया। यद्यपि बड़े पूँजीजीवी तत्वोंने लोगोंके सामने अपना भय पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं किया था किन्तु विकासोन्मुख सार्वजनिक क्षेत्रके बारेमें पुनः फिर सोचने लगे थे। उनका यह आक्रमण उस समय आरम्भ हुआ, जब उन्हें यह विश्वास होने लगा कि समाजवादी देशोंके साथ प्रशासनिक स्तरपर निरंतर बढ़नेवाला सरकारोंके बीच होनेवाला व्यवहार देशके आर्थिक जीवनमें सार्वजनिक क्षेत्रको प्रमुखता प्रदान कर देगा।

किंतु अब अवसर निकल गया था। इन विचारोंने जड़ पकड़ ली थी, इसके अतिरिक्त मध्यम पूँजीजीवी सार्वजनिक क्षेत्रको तब तक समर्थित करनेके लिये तैयार थे, जब तक कि वह उनके अधिकारोंका ही हनन न करने लगें। किन्तु आज भी यह कहना उचित नहीं होगा कि पूँजीजीवियोंका कोई भी वर्ग समाजवाद शब्दका वास्तविक अर्थ अच्छी तरह समझता है। समाजवादविषयक उनकी समझ आज भी लगभग उतनी ही है, जितनी अवाड़ी काँग्रेसके अवसरपर थी।

फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि काँग्रेसी समाजवाद धोखेकी टट्टी है। बृहत् क्षेत्रिय राज्य पूँजीवादको स्वीकार करके एक पिछड़े देशमें लागू करनेके तथ्यका ही

केवल एक ही परिणाम निकलता है अर्थात् वास्तविक समाजवादके मार्गको प्रशस्त करना। पिछड़ी अर्थव्यवस्थाके तर्क ही इस परिवर्तनके लिये विवश कर देंगे।

उदाहरणार्थ भारतीय राज्य पूँजीवादको विकसित पूँजीवादी देशोंके तद्रूप कार्योंके समान समझना मूर्खताकी बात होगी। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिकामें राज्य-पूँजीवाद निजी स्वत्वाधिकारोंसे विकसित होता है। उन देशोंकी व्यवस्थाकी प्रमुख विशेषता यह है कि वह स्वदेशी और विदेशी सभी लोगोंका उद्दोहन करती है। वहाँ राज्यपूँजीवाद साम्राज्यवादी और प्रसारवादी लक्ष्योंकी साधना करता है तथा शक्ति-शाली और पूर्ण विकसित एकाधिकारी हितोंको सहायता देता है।

भारत तथा भारत सरीखे अन्य अर्द्धविकसित देशोंकी परिस्थिति पूर्णतया भिन्न है। यहाँ पर सार्वजनिक क्षेत्रमें सम्मिलित होनेवाला राज्यपूँजीवाद तीव्र आर्थिक विकास सम्भव बनाता है और ऐसा करते समय साम्राज्यवादियों और उनसे सहयोगियोंकी आर्थिक पकड़को ढीला करके राष्ट्रीय स्वतंत्रताको आश्रय देती है। इसलिये भारतीय प्रवृत्तियोंको देखकर विदेशी पूँजीका बुरी तरह आतंकित होना अकारण नहीं है, क्योंकि भारत निष्कर्ष रूपसे आर्थिक प्रगतिके हितार्थ उनकी पूँजी हस्तगत करनेका प्रस्ताव रख सकता है।

फिर वर्तमान समयमें जब पिछड़े देशोंकी सरकारें आर्थिक उन्नतिका नेतृत्व करने लगती हैं, तो उनकी सहायताका एक मात्र आधार समाजवादी संसार रह जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था समाजवादकी ओर उन्मुख देशोंके अंदर किसी नये कार्यको हाथमें लेना भययुक्त समझते हैं। समाजवादी संसारकी ओर पिछड़े क्षेत्रोंका ऐसा झुकाव, राज्यपूँजीवादको प्रगतिका अस्त्र बनानेमें सहायता देता है।

इन सब बातोंका यह अर्थ नहीं है कि काँग्रेसपार्टी या पूँजीजीवियोंके मध्यम वर्गने इन सब बातों पर विचार कर लिया है। वे अब भी राजनैतिक प्रक्रियाके नियमोंका उल्लंघन करनेकी आशा करते हैं। किन्तु उन्हें द्वितीय योजनाकालमें यह ज्ञात हो जायगा कि ऐसा होना सम्भव नहीं है। उस समय कुछ लोग इन नीतियोंका पालन करेंगे, जब कि अन्य लोग इनके साथ विश्वासघात करेंगे।

बड़े और मध्यम पूँजीजीवी वर्गोंके पारस्परिक तथा उनके द्वारा अपनाये जानेवाले दृष्टिकोण-संदर्भमें इस विवेचनाको बल प्राप्त होता है।

भारतीय एकाधिकारियोंके हित साम्राज्यवादी अंतर्राष्ट्रीय पूँजीके साथ अनेक प्रकारसे संयुक्त हैं। वे राष्ट्रीय स्वतंत्रताके मूल्य पर तो नहीं वरन जिस प्रकार कोई बनिया एक विक्रेताका दूसरेके विरुद्ध उपयोग करता है, उसी तरह गठबंधनोंको अधिक सुदृढ़ बनानेके लिये विश्वकी समस्याओंमें इस देशकी महत्वपूर्ण स्थितिका लाभ उठायेंगे।

किन्तु अपने अपने भाषिक क्षेत्रके शक्तिधारी मध्यम पूँजीजीवी इतना सब नहीं करेंगे। साम्राज्यवादी गठबंधनका अर्थ बड़े एकाधिपतियोंको नई शक्ति प्रदान करना है। यह विकास मध्यम वर्गके हितमें नहीं है। किन्तु साथ ही मध्यम पूँजीजीवी साम्राज्यवादसे संपूर्णतया सम्बंध विच्छेद करनेमें झिझकते हैं। यह वे तभी कर सकते हैं, जब कि वे अपने आपको मजदूर वर्गके हितोंके साथ संयुक्त कर लें और चीनके समान नये प्रकारकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था अपनानेके लिये तैयार हों। इस विषयमें उन्होंने अभी सोचा भी नहीं है, क्योंकि संकट अभी इतना गम्भीर नहीं है, जो उन्हें ऐसा करनेपर विवश करे। किसी भी समय ऐसे परिवर्तनकी कल्पना करना बहुत बड़ी बात होगी।

साम्रज्यवादके प्रति इस दृष्टिकोण अपनानेके कारण पूँजीजीवियोंके मध्यम और उच्च दोनों वर्गोंको किसी सीमा तक समान क्षेत्र प्राप्त हो जाता है। राष्ट्रमंडलीय शृंखलाकी रक्षा की जाती है, किन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यौद्धिक दलसे और साम्राज्यवादी दलसे अपने आपको अलग करनेके पश्चात राष्ट्रमंडलसे भी पृथक होनेका विचार सामने आने लगा है। विदेशी व्यवसायकी शक्ति समाप्त करने, एशिया और अफ्रीकामें एक शांति क्षेत्रका निर्माण करने तथा समाजवादी संसारको भी सम्मिलित करते हुए एक व्यापारका क्षेत्र निर्माण करनेकी आवश्यकताके फल स्वरूप यह विचार उत्पन्न हुआ है।

बड़े अखिल भारतीय पूँजीजीवी ऐसे भयप्रद परिवर्तनोंके विरुद्ध हैं। वे नेहरूको भयंकर संकटके समान समझते हैं। तटस्थता तो ठीक थी, किन्तु स्पष्ट

स्वतंत्रता, समाजवादी संसारसे व्यापार, वाशिंगटनका स्पष्ट प्रतिघात तथा अंतर्राष्ट्रीय सम्बंधोंके सिद्धांतस्वरूप पंचशीलका निरंतर प्रतिपादन पचानेके लिये बहुत भारी पड़ेगा। बड़े पूँजीजीवी कुछ कलकी ही उपज थोड़े ही हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि इन नीतियोंका देशकी आंतरिक प्रवृत्तियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

पीठ पीछे चाहे कितनी भी आलोचना की जाय, आर्थिक योजनाओंका महत्व घटाया जाय, उन्मुक्त गोष्ठियाँ उलझनके बीज बोयें, किन्तु इनमेंसे कोई भी बड़े उद्योगपतियोंके निजी गढ़ोंकी सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा किये जानेवाले अतिक्रमणसे रक्षा नहीं कर सकते। यदि हम केवल द्वितीय योजनाके प्रति अपनाये जानेवाले सार्वजनिक स्वागतकी दृष्टिसे ही देखें, तो यह वास्तविकता नहीं दिखलाई पड़ेगी। यह स्वागत तो स्वाभाविक है। एकाधिकारी तत्व विकासशील अर्थव्यवस्थासे यथेष्ट लाभ प्राप्त करनेकी सम्भावना देखते हैं। सम्भव है मध्यमवर्ग सार्वजनिक क्षेत्रीय नवीन आयोजनाओंके अंदर विकसित होनेवाले लघु उद्योगोंको उन्नत करनेके लिये तत्काल ही धन प्राप्त न कर सके और इस कारण सदैवके समान अपने बड़े भाइयोंका आसरा ताके।

पुनः राष्ट्रीय औद्योगिक विकासनिगमकी निधि बड़े पूँजीजीवी हस्तगत करना चाहते हैं। अन्य वित्तीय निगमोंको भी ऐसे अनधिकृत दखलसे बचनेके लिये भारी संघर्ष करना पड़ेगा। वित्तीय निगम विषयक सैद्धांतिक विरोध तो प्रारम्भ हो गया है। इस समय विश्व बैंक निर्देशित औद्योगिक ऋण और विनियोजन निगम तथा राष्ट्रीय औद्योगिक विकासनिगम पर नियंत्रण स्थापित करनेमें एकाधिपति सफल हो गये हैं, किन्तु राज्योंमें प्रतिआक्रमण आरम्भ हो गया है। उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल दोनों प्रदेशोंमें कॉंग्रेसपार्टीय नेताओंको गम्भीर आलोचनाका सामना करना पड़ रहा है, क्योंकि उन्होंने निधि-नियतन कार्यके पर्यवेक्षणकी बिड़ला और जालानको आज्ञा दे दी है। द्वितीय योजनाके अग्रसर होनेके साथ ही साथ यह प्रतिआक्रमण भी फैलेगा।

दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि यदि कोई व्यक्ति तत्कालीन भविष्यसे आगेकी ओर देखे तो पूर्णरूपेण भिन्न सम्भावनायें सामने आती हैं। जैसे ही मध्यम पूँजीजीवियोंने अपने संभ्रमको समाप्त किया, वे राज्योंकी अपनी संदेह-रहित प्रभाव-

शाली स्थितिके सहारे वित्तीय निगमोंकी निधि पर एकाधिकार प्राप्त करनेके लिये कृतसंकल्प हो जायँगे। साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा लाइसेंस देनेमें तथा इसी प्रकारकी अन्य सुविधाओंके विषयमें बड़े पूँजीजीवियोंके प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहारकी वर्तमान व्यवस्थाको समाप्त करनेके लिये कदम उठाये जायँगे।

जब मध्यम वर्ग देखेगा कि सार्वजनिक क्षेत्रीय इस्पात आदि मौलिक उद्योगोंके कारखाने टाटा आदि निजी कारखानोंकी अपेक्षा अधिक उत्पादन कर रहे हैं, तब उन्हें अधिक विश्वास आ जायगा, क्योंकि एक बार ऐसा होनेके पश्चात उनके विकासकी अधिक सम्भावना होगी।

इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े निजी उद्यमी अपनी शक्ति खो देंगे। उदाहरणार्थ उस समय सरकारसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे टाटाको इस्पातका मूल्य अधिक ऊँचा कायम रखनेके लिये सरकारी सहायता दें, जब कि वे स्वयं इस पदार्थका अधिक भाग उत्पादित कर रहे हों। टाटा तथा अन्य लोग इन खतरोंसे परिचित हैं। और इसी कारण वे विश्वबैंक ऋणकी सहायतासे उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं। किन्तु उनके लिये यह हारनेवाला संघर्ष है।

तथापि यह निष्कर्ष अभी प्राप्त नाहीं हो सके हैं। समस्त देशमें अभी निराशा और विरक्ततासे पूर्ण लघु उद्योगपतियों और व्यवसायियोंका राज्य है, जो बड़े पूँजी-जीवियोंके समान शक्ति और प्रशंसनीय प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं और जो अपने प्रतिद्वंदियोंसे निबटनेके लिये क्षेत्र तैयार करनेमें अधिक व्यस्त होते जा रहे हैं। वे लाभोंके अंदर आपादमस्तक डूबकर आगामी वर्षोंको स्वयं अपना ही बनाना चाहते हैं, ऐसे वर्ष जिनमें वे बड़े पूँजीजीवियोंसे वित्तीय अल्पतंत्रसे मुक्त हो सकें।

यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। संपूर्ण भारतीय निहित स्वार्थोंके अत्यंत उलझन और कपटतासे पूर्ण व्यवहारोंको देखनेपर यह मालूम पड़ेगा कि अखिल भारतीय बड़े पूंजीजीवियोंका एक छोटा वर्ग अवसर मिलने पर क्षेत्रीय मध्यम पूँजीजीवियों या अन्य लोगोंकी नीतियोंसे क्रीडा कर सकता है। कुछ बड़े पूँजीजीवी विदेशी पूँजीसे निकट सम्बधित नहीं हैं और न उनका व्यवसाय संपूर्ण उप महाद्वीप पर फैलाही है।

उन्होंने किसी विशेष क्षेत्रमें गहरे व्यवसायिक सम्बंध विकसित कर लिये हैं और विकसित सार्वजनिक क्षेत्रमें भी निरंतर प्रगतिकी सम्भावनायें देखते हैं। इसके विरुद्ध कुछ मध्यम तत्वज्ञ विदेशी प्रतिष्ठानोंसे आबद्ध हैं। वे इस ढंगसे चतुर्दिक फैले हैं कि जिससे वे बड़े पूँजीजीवियोंके छोटे सहकर्त्ता बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक ऐसा भी भाग है, जो अपने वर्गके साथ चलते हुए भी मुख्य प्रवृत्तिका अस्थायी विरोधी है, उसे देखकर झिझकता है एवं संभ्रममें पड़ जाता है।

यह युगांतरकालीन चिन्ह हैं। पूँजीजीवियोंके इन दोनों दलोंका पारस्परिक संघर्ष और तनाव अधिकाधिक व्यक्त होता जा रहा है और समय व्यतीत होनेके साथ ही साथ तीव्र होता जायगा। संपूर्ण भारतमें अपना व्यवसाय करनेवाले पूँजीजीवी क्षेत्रीय पूँजीजीवियोंकी प्रधानता रोकनेके लिये अधिक उदंडतापूर्वक प्रयत्न करेंगे। फिर एक स्थिति ऐसी भी आयेगी जब उनके सामने संकट उपस्थित हो जायगा। उस समय इन कठिनाइयों पर विजय पानेके लिये वे कुछ भी करनेसे न चूकेंगे।

इस बातकी पूरी पूरी सम्भावना है कि बड़े एकाधिपतियोंके गतिरोधक और भ्रष्टाचारी तत्त्व अपनी कार्यवाहियोंको साम्राज्यवादी षड़यन्त्रों और प्रतिक्रियाओंसे अधिकाधिक संयुक्त करते जायँगे तथा समाजवादी पार्टियोंका सामना करनेके लिये हिन्दू महासभा तथा अन्य तानाशाही उद्धारवादी (रिवाइवलिस्ट) दलोंका अधिकाधिक सहारा खोजेंगे। यह भी सम्भव है कि पूँजीजीवियोंके भेदभाव बढ़ने पर स्वयं कॉंग्रेसके विरोधी दलोंके बीचमें बड़ी खाईं पड़ जाय।

भारतीय राजनैतिक शतरंजकी एक प्रमुख दृष्टव्य विशेतषता अर्थात सरकारी नीतिकी हिचकिचाहट, सरकारी सिद्धांत एवं व्यवहारकी अनेक प्रतिकूलतायें पूँजीजीवियोंके हिचकिचाहट, तथा आंतरिक शक्तिसंतुलनका झुकाव एवं संघर्ष प्रदर्शित करते हैं। आजकी अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि मजदूरों और किसानों पर आधारित स्वदेशाभिमानी प्रगतिशील एवं प्रजातांत्रिक तत्व पूँजीजीवियों अथवा कांग्रेस पार्टीमें होनेवाले इस संघर्षकी सक्रिय और स्वीकारात्मक रूपसे मध्यस्थता करें।

भूतकालमें इस कार्यकी बुरी तरह उपेक्षा की गई है। किन्तु अब आगे आनेवाले भविष्यमें इसकी यह उपेक्षा जारी नहीं रह सकती।